।।श्रीकृष्णाय नमः।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

सम्पादकीय

उपक्रम :

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण द्वारा विरचित 'विद्वन्मण्डन' 'भक्तिहंस' 'भक्तिहेतुनिर्णय' एवं 'मुक्तितारतम्यनिरूपणम्' इस सम्प्रदायके प्रथम वादग्रन्थ हैं. इनके बाद अवतारवादावलीकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीसे पूर्ववर्ती भी तथा पश्चाद्वर्ती भी कतिपय विद्वानोंके द्वारा वादशैलीमें ही विरचित कुछ अन्य भी ग्रन्थ इस सम्प्रदायमें उपलब्ध होते हैं. उपदेशात्मक विपुल प्रकरणग्रन्थराशीके प्रणेता महानुभाव श्रीहरिरायजी द्वारा भी विरचित तथा इस खण्डमें प्रकाश्यमान 'ब्रह्मवाद' नामक पद्यात्मक तथा गद्यात्मक दो लघु वादग्रन्थ यहां विशेषतः उल्लेखनीय लगते हैं. इसी तरह अन्य भी कुछ वादग्रन्थ अवतारवादावलीसे भी पूर्वकालिक भी तथा पश्चात्कालिक भी रचनायें हैं जो यहां प्रकाशित होने जा रही हैं.

'ब्रह्मवाद' पदसे अभिप्रेत अर्थ :

श्रौत साहित्यमें 'ब्रह्मवाद' या 'ब्रह्मवादी' संज्ञाके अन्तर्गत 'ब्रह्म' पद जैसे परमतत्त्वका वाचक माना गया है वैसे ही स्वयं वेदका वाचक भी माना गया है. यथा उपनिषदोंमें ही जब श्वेताश्वतरोपनिषद्के **''ब्रह्मवादी पूछते हैं कि हमारा कारणभूत तत्त्व क्या है? ब्रह्म क्या-कैसा है? हम कहांसे पैदा हुवे हैं? किसके आधारपर जी रहे हैं? हम कहां सम्प्रतिष्ठित हैं?''** (श्वेता.उप.१।१) इस वचनमें जो ब्रह्मजिज्ञासा प्रकट हुयी है तो यहां 'ब्रह्म'पदको परमतत्त्वका अभिधायक समझना चाहिये. जबकि छान्दोग्योपनिषद्के **''ब्रह्मवादी कहते हैं कि वसुओंका प्रातःसवन होता है और रुद्रोंका दिनके मध्याह्नमें...''** (छान्दो.उप.२।२४।१) तो ऐसे वचनोंमें 'ब्रह्म'पदको वेदोंकी शब्दराशीके अभिधायकतया ही स्वीकारना उचित लगता है.

ऋग्वेदकी संहितामें, अतएव, जब एक गम्भीर दार्शनिक प्रश्न मनीषियोंके संमुख विमर्शार्थ प्रस्तुत किया गया कि **''किस वनमें से, कौनसे वृक्षको तराश कर ये द्युलोक और पृथिवीलोक संवारे गये हैं? अरे मनीषिओ कभी अपने मनसे भी पूछ कर तो देखो कि इन भुवनोंको तराशनेवालेने कहां खड़े हो कर इन्हें तराशा था''** (ऋक्संहि.१०।८।४) और तब उसके समाधानतया जो तैत्तिरीयब्राह्मणने सैद्धान्तिक घोषणा की कि **''वह वन ब्रह्म था, वह वृक्ष भी स्वयं ब्रह्म था, जिसे तराश कर ये द्युलोक और पृथिवीलोक संवारे गये. मनीषिओ मैं अपने मनमें निगूढ़ रहस्य बताये देता हुं कि इन्हें तराशनेवाले ब्रह्मने स्वयं अपने ऊपर खड़े हो कर इन भुवनोंको तराशा है''** (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।९।७) तो इस वचनको हमें ब्रह्मवादका मौलिक उद्घोष ही मानना पड़ता है.

सुस्पष्ट शब्दोंमें इस श्रुतिवचनमें सृष्टिके अभिन्ननिमित्तोपादानतया ब्रह्मका प्रतिपादन हो रहा है. अतएव अंशात्मना ब्रह्मका परिणाम्युपादान होना, अंशी कर्ता तथा उस सृष्टिकर्ताके आधारतया भी एकमात्र स्वात्मप्रतिष्ठित ब्रह्मको ही स्वीकारना, कार्य-कारणके बीच भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य या भावात्मक अद्वैत स्वीकारना, ये ही तो ब्रह्मवादके प्रमुख मुद्दे हैं. यों स्फुटतम शब्दोंमें ब्रह्मवादके सिद्धान्तका निरूपण ही इस वचनमें हुवा है, यह स्वीकारना चाहिये.

इस वचनका संवाद भी पुनः ऋग्वेदमें पुरुषसूक्तके अधोनिर्दिष्ट वचनके साथ निर्विवाद झलकता ही है **''यह सभी कुछ पुरुष ही है, चाहे कोई वस्तु भूतकालीन हो या भविष्यत्कालीन. वह पुरुष तो ऐसी अमृतताका ईश्वर है जो अन्न या अन्नमय प्राणिओंमें भी तिरोहित हो नहीं पाता. क्योंकि उसकी व्यापक महिमा ही ऐसी है. अन्यथा वह तो स्वयं इससे भी कहीं अधिक व्यापक पुरुष है. क्योंकि उसके एक पादमें ये सारे मर्त्यभूत आ जाते हैं और उसके तीन पाद तो अमृत द्युलोकमें ही रहते हैं''** (ऋक्संहि.१०।९०।२-३).

इस ऋक्संहिताके वचनमें भी ब्रह्मका अंशेन जगदात्मना परिणत होना, उस परिणत जगत्के भूतकाल वर्तमानकाल और भविष्यत्काल में परिच्छिन्न होनेपर भी निजकारणात्मना कालत्रयातीत या अपरिच्छिन्न भी होना; अर्थात् सृष्टिगत

अन्न तथा अन्नमय प्राणिपर्यन्त का निज उपादानकारणसे अभिन्न होना या उस कारणपुरुषका इनमें अतिरोहित होना; अतएव कार्यात्मना परिणत होनेपर भी अंशिरूपेण मूल कारणका कार्यातीत भी होना, इत्यादि अनेक पहलु ब्रह्मवादके यहां इदमित्थम्भावेन निर्धारित हो जाते हैं.

मूलमें यही कारण है कि वेदार्थविचारमें प्रवृत्त महर्षि जैमिनि और महर्षि बादरायण **''अथातो धर्मजिज्ञासा''** (पू.मी.सू.१।१।१) सूत्रमें उस वेदार्थको धर्मतया निरूपित करनेके बावजूद उत्तरमीमांसासूत्रमें वेदोंके वाच्यार्थभूत परमतत्त्वका अभिधान भी 'ब्रह्म'पदद्वारा ही करते हैं **''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''** (ब्र.सू.१।१।१). अतएव भगवद्गीताके भी **''कर्म ब्रह्मसे प्रकट होता है और ब्रह्म अक्षरब्रह्मसे. अतः सर्वगत ब्रह्म तो यज्ञोंमें भी नित्य प्रतिष्ठित रहता है''** (भग.गीता.३।१५) इस वचनमें भी इसी तथ्यको समर्थन मिल रहा है.

ब्रह्ममीमांसा होनेके कारण मूलतः सभी वेदान्तसम्प्रदायोंका ब्रह्मवादी होना आवश्यक है :

इन वचनोंको भलीभांति दृष्टिगत करनेपर वैसे तो वेद-वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंका ब्रह्मवादी होना अपरिहार्य लगता है. फिरभी श्रुतिप्रतिपादित ब्रह्मवादके स्वरूप या स्वारस्य पर लक्ष्य देनेपर किसे ब्रह्मवादी मानना या किसे न मानना यह विषय भी विशद विमर्शकी अपेक्षा तो रखता ही है.

महाप्रभुका तो इस विषयमें यही स्पष्ट अभिप्राय है कि वाचक श्रुतिशब्द और उनसे वाच्यार्थभूत तत्त्व दोनोंकी 'ब्रह्म'पदवाच्यता लक्ष्यगत करनेपर दोनों ही तत्त्व इतरेतरात्मक होनेपर भी लीलया द्वैतभावापन्न हुवे हैं. अतएव महाप्रभु कहते हैं **''रूपप्रपञ्चको प्रकट करनेके बाद उसमें आसक्त हो जानेवाले अपने चिदंशोंकी विषयासक्तिको क्षीण बनानेको अर्थात् जीवात्माओंके अन्तःकरणमें परमात्माका कुछ आकलन हो पाये एतदर्थ परमात्माने अपने-आपको श्रुतिके शब्दोंके रूपमें प्रकट किया.''** (त.दी.नि.२।१८). महाप्रभु, अतएव, ब्रह्मसूत्रभाष्यमें उस परमतत्त्वका विचार इतरप्रमाणनिरपेक्ष निजात्मानुभूतिसिद्ध तत्त्वके रूपमें करनेके बजाय वेदान्तादि शास्त्रोंके प्रमेयतया ही करना चाहते हैं :

''यहां यह विचारणीय लगता है कि वेदान्तोंका विचार आरम्भ करना चाहिये अथवा नहीं?... कुछ विद्वान् ऐसा सोचते हैं कि वेदार्थके केवल ज्ञानमात्र प्राप्त करनेको वेदान्तका विचार करना आवश्यक नहीं है. और क्योंकि ब्रह्मके अलावा और तो किसीका अस्तित्व ही न होनेसे और वह ब्रह्म तो स्वयं हमारे भीतर आत्मतया अवस्थित भी है ही, अतः ब्रह्मज्ञानार्थ ही विचार आवश्यक होता है... यह धारणा, परन्तु, उचित नहीं लगती है. क्योंकि अपनी बुद्धिसे वेदार्थकी परिकल्पना करके केवल तदर्थ विचार करना कैसे उचित हो सकता है? श्रुतिमें तो सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि 'उस औपनिषद पुरुषके बारेमें कुछ पूछना चाहता हुं' अतः इस वचनके आधारपर ब्रह्म तो केवल उपनिषदोंका ही प्रमेय सिद्ध होता है. ऐसे उस प्रमेयको अन्य शास्त्रोंसे कैसे जाना जा सकता है. अतः यह ब्रह्ममीमांसा कोई स्वतन्त्र शास्त्र हो तो उसके आधारपर मिलता ज्ञान ब्रह्मज्ञान नहीं माना जा सकता... अतः वेदार्थरूप ब्रह्मका वेदानुकूल विचार ही हमारेलिये कर्तव्यतया अवशिष्ट रह जाता है. ऐसी स्थितिमें वेदवचनोंकी केवल व्याख्या करना ही हमारा कर्तव्य बन जाता है. क्योंकि व्याख्या करनेसे वचनोंके विशेष अभिप्राय प्रकट हो पाते हैं.''

(ब्र.सू.भा.१।१।१).

अतएव कहा जा सकता है कि वाल्लभ वेदान्तमें ब्रह्मका श्रौत शब्दोंसे गम्य या प्रकाश्य होना, ब्रह्मकी स्वप्रकाशरूपताका ही एक लीलात्मक विस्तार है. भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके नितान्त मननीय वचनोंके साथ इस धारणाका संवाद भी अवलोकनीय है **''ईश्वरको जगत्का कर्ता माननेवाले जगत्के जन्म आदिको हेतु बना कर उसके कर्ता होनेका अनुमान करते हैं, परन्तु ऐसा अनुमान वेदान्तसूत्रोंमें किया नहीं जाता है. क्योंकि ये वेदान्तसूत्र तो पुष्पोपम वेदान्तके वचनोंकी माला गूंथनेको ही प्रवृत्त हुवे हैं नकि अनुमान आदि स्वतन्त्र प्रमाणोंके बलपर ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करने. जगत्को ब्रह्ममें से उत्पन्न हुवा, वहीं स्थित और अन्तमें वहीं लीन होनेका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तके**

वचनोंके आधारपर उस तथ्यके दृढीकरणार्थ यदि कोई अनुमान किया जाता हो तो वह आपत्तिजनक नहीं होता'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२).

अतएव लोकमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोसें गम्य अर्थात् अनुभूतिगोचर होते विषयोंका भी श्रौत शब्दोंसे गोचर ब्राह्मिक रूप, कदाचित् लौकिक प्रमाणोंसे बाध्यतया प्रतीत होता होनेपर भी, वस्तुतः बाधार्ह नहीं माना जाता. उदाहरणतया सर्वथा वास्तविकतया प्रतीत होते वस्त्रादिनिर्मित पुष्पगुच्छोंका चक्षुगोचर रूप, त्वचासे गोचर बनती अपनी वस्त्रोपादानात्मकताको बाधित नहीं कर पाता. अतः निष्कर्षरूपेण दो महत्त्वपूर्ण विधान महाप्रभु करते हैं :

१.जिन श्रुतिके वचनोंमें ब्रह्मका जगत्का कारण होना प्रतिपादित हुवा है, वहां मुख्यार्थका बाध नहीं करना चाहिये, क्योंकि श्रुतिमें ब्रह्मके ही कार्यतया जगत्का प्रतिपादन किया गया है. अतः ऐसे तो माना नहीं माना जा सकता कि अनादि अविकारी ब्रह्ममें उत्पत्तिविनाशशाली विकारी जगत्के अस्तित्वके निषेधार्थ ही उत्पत्तिका निरूपण किया गया है. क्योंकि तब तो जगत्की सत्ता प्रत्यक्षानुभूतिमें वास्तविक नहीं लगनी चाहिये थी. यदि केवल वेदबोधित होनेसे जगत्की प्रतीति होती हो तब तो वह कथा सम्भव हो पाती कि जगत्के निषेध करनेसे पहले वेद उसे प्रतिपादित कर रहे हैं और बादमें निषेध. जगत्की प्रतीति तो अन्यथा भी लोकसिद्ध ही है. अतः ऐसे जगत्का कर्ता कौन हो सकता है, यह लोकप्रतीतिके आधारपर सिद्ध न होता होनेसे, वही तथ्य वेदद्वारा निरूपित हो रहा है. लोकप्रतीतिसिद्ध जगत्का अनुवाद कर, अतएव, उसके समवायी कर्ताका प्रतिपादन ही वेदाभिप्रेत लगता है. ऐसी स्थितिमें यदि स्वयं वेद जगत्का निषेध करने लगे तो जगद्रूप कार्यके तो विद्यमानतया प्रतीतिगोचर होनेसे और अन्य किसी तरहके कार्यके या कर्ताके विद्यमान न होनेके कारण स्वयं श्रुतिका विवक्षित अर्थ ही बाधित हो जायेगा.''

२.''जगत्के प्रत्येक विषय परस्पर समान ही होते हैं. उनमें किसी तरहका तारतम्य नहीं होता. अतएव यहां सभी कुछ अखण्ड कृष्णरूप ही होता है. वही परमात्मा यह सब कुछ बना है. सर्वभवनसमर्थ होनेसे वही प्रकट करनेवाला और प्रकट होनेवाला भी बनता है. विश्वात्मा होनेके कारण वही सभी रूपोंमें पालित भी हो रहा है और पालक भी वही है. परमेश्वर होनेके कारण वह स्वयं उपसंहृत भी होता है और वही उपसंहारक भी बनता है. 'आत्मैव तद् इदं सर्वम्'–'ब्रह्मैव तद् इदं' इन श्रुतिओंके आधारपर ऐसा ही सिद्ध होता है. इसीको 'ब्रह्मवाद' कहते हैं. और तो सारी बातें मोहनार्थ ही कल्पित लगती हैं''.

(त.दी.नि.प्र.१।८३,२।१८२-१८४).

अतएव महाप्रभु कहते हैं **''भगवान् कृष्ण ऐसे अद्भुतकर्मा हैं कि जो स्वयं अपने दिव्य रूप-नामोंके विभेदको प्रकट कर क्रीड़ा करते हैं. वे स्वयं प्राकृत रूप-नामोंवाले जगत्का भी रूप धारण कर क्रीड़ा करते हैं. वे किसी भी तरहके रूप-नामोंको धारण किये बिना भी अपनी अविद्या शक्तिके द्वारा जीवात्माके भीतर वैसी अनुभूति भी प्रकट कर सकते हैं''**. (त.दी.नि.१।१).

अतः सभी कुछ ब्रह्मोपादानक होनेसे ब्राह्मिक होता है, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मकी आंशिक सत्ता आंशिक चैतन्य और आंशिक आनन्द से प्रकट होती लीला ही इन अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके रूपोंमें अभिव्यक्त हो रही है. अन्तमें भी सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्ममें ही यह सब कुछ लीन होनेवाला है. अतः केवल प्रमाण-प्रमेयोंकी विभिन्नतामें ही नहीं अपितु साधन-फलोंकी अनेकविधतामें भी ब्राह्मिक लीलासंकल्पका अनुभाव ही प्रकट होता मानना आवश्यक हो जाता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

''वेदके पूर्वकाण्डमें श्रीहरिके क्रियाशक्तिरूप यज्ञरूपोंका विधान हुवा है. वेदके उत्तरकाण्डमें श्रीहरिके ज्ञान और ज्ञेय यों उभयशक्तिरूप ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन हुवा है. इन क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनोंसे विशिष्ट अवतारी श्रीहरिका भागवतपुराणमें श्रीकृष्णके रूपमें निरूपण हुवा है. सूर्यादि अनेक देवताओंके रूपोंको धारण करनेवाले तत्तद्रूप श्रीहरिका तत्तत् पुराणोंमें निरूपण

ज्ञानकाण्डके अंगतया हुवा है. वैसे तो इनमेंसे किसी भी रूपमें भजन सम्भव है फिरभी आदिमूर्ति श्रीकृष्ण ही सायुज्यकामनावश सेवनीय होने चाहिये. क्योंकि प्रकृतिकी गुणत्रयीसे अतीत मुक्ति तो इसी प्रकृतिसे अतीत परमतत्त्वके कारण होती है... अतएव जो इस तरहके सभी नाम-रूप-कर्मोंसे अभिन्नताको जान कर भी श्रीकृष्णके भजनमें तत्पर हो पाता है उससे बढ़ कर ज्ञानी अन्य कौन हो सकता है''

(त.दी.नि.१।११-१४).

'ब्रह्मवाद'का फलितार्थ प्रमाण प्रमेय साधन या फल सभीकी ब्रह्मात्मकताका अंगीकार :

अर्थात् इस सृष्टिमें प्रमाण प्रमेय साधन और फल सभी कुछ ब्रह्मात्मक हैं. अतएव भाष्यमें यह कहा गया है :

'''उसे एकाकितया रमण करना सुहाया नहीं, उसे दूसरेकी अभिलाषा हुयी और यह दिखलायी देता सारा जगत् वही बन गया', ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर, 'ऊपर उठाने या नीचे पटकने को वही हमसे अच्छे/बुरे कर्म करवाता है' ऐसे वचनोंके भी आधारपर उन-उन साधनोंको करवा कर उन-उन फलोंका दान देते भये भगवान् अपनी क्रीड़ाके हेतु जगत्के रूपमें आविर्भूत हो कर क्रीड़ा करते हैं, ऐसा वैदिकोंका निर्धार है.''

(ब्र.सू.भा.१।१।११).

अतएव महाप्रभुने यह प्रतिपादित किया है **''अपनी स्वयंकी इच्छाके अनुरूप अग्निमेंसे चिनगारीकी तरह सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके सदंशमें से जड़ पदार्थ प्रकट होते हैं, चिदंशमें से जीवात्मा तथा आनन्दांशमेंसे जीवात्माके भीतर विद्यमान अन्तर्यामिरूप परमात्मा ईश्वर''** (त.दी.नि.१।२७-२९). अतः सृष्टिमें जड़-जीव-ईश्वर तीनोंकी ब्रह्मात्मकता दिखलानेको श्रुतिवचनमें आता है कि **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् (ऐतदात्म्यम्) त्वम् असि''** (छान्दो.उप.६।८।७). इस सन्दर्भमें महाप्रभु कहते हैं :

'''यहां सभी कुछ ब्रह्मात्मक है' ऐसा कह कर पहले सदंशरूप जड़की ब्रह्मात्मकता दिखलायी गयी. जड़रूप कार्योंमें किसी तरहके दोष न होनेका तथ्य उसे 'वह सत्य है' कह कर दिखलाया गया है. चिदंश जीवोंकी ब्रह्मात्मकता दिखलानेसे पूर्व बीचमें 'इनकी आत्मा तो वही है' यह कह कर हेतु दिखलाया दिया गया है. यों जड़रूप कार्योंकी ब्रह्मात्मकता दिखला कर जीवरूप अंशोंकी भी ब्रह्मात्मकता दिखलानेको ही 'वही तुम हो' कहा जा रहा है. यह उपदेशात्मक वचन है ऐसा 'आवृत्तिः असकृद् उपदेशाद्' इस ब्रह्मसूत्रके आधारपर सिद्ध होता है. अतः यह सम्पूर्ण महावाक्य उपदेश है. इसमें जैसे सदंशके बारेमें 'ऐतदात्म्यम्' पदमें भागत्यागलक्षणा नहीं मानी वैसे ही चिदंशके बारेमें नहीं माननी चाहिये थी... क्योंकि सभी कुछ ब्रह्म है, यह कहनेको ही जीवकी ब्रह्मता निरूपित हुयी है''.

(त.दी.नि.प्र.१।६१-६२).

अर्थात् केवलाद्वैतानुरोधी व्याख्यानकी दृष्टिसे विचारें तो वहां 'इदं'पदसे इंगित सदंश जड पदार्थकी ब्रह्मात्मकता ''सांझके धुंधलकेमें जिसे लुटेरा समझ रहे थे वह सूखे वृक्षका ठूंठ है'' ऐसे बाधार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन मानी जाती है जबकि 'त्वं'पदसे इंगित होते चिदंश जीव पदार्थकी ब्रह्मात्मकता ''जिस देवदत्तको पहले कभी पटनामें देखा था वही अब काशीमें दिखलायी दे रहा है'' ऐसी भागत्यागलक्षणाके आधारपर मानी जाती है. यों एक ही वाक्यमें एकहेलया उपदिष्ट ब्रह्मात्मकताका दो तरहसे विधान माननेमें असमञ्जसता झलकती है. अतः ऐसी व्याख्यानरीति अपनानेके बजाय ऋजुमार्गका अनुसरण करते हुवे सदंश और चिदंश दोनोंको समानतया ब्रह्मात्मक मानना अधिक उपयुक्त लगता है.

अतः 'ब्रह्मवाद'पदका फलितार्थ होगा ऐसा वाद कि जिसमें सभी कुछ ब्रह्मोपादानकतया ब्रह्मात्मक माना जाता हो.

ब्रह्मवाद साकारब्रह्मवादके रूपमें :

प्रतीत होता है कि गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणने भी अपने 'विद्वन्मण्डन' नामक ग्रन्थमें तो 'ब्रह्मवाद' संज्ञाका ही स्वमतके अभिधानार्थ प्रयोग प्रारम्भमें पर्याप्त माना था. बादमें कभी अपने पितृचरणके अष्टोत्तरशत नामोंवाले 'सर्वोत्तम' नामक स्तोत्रमें इस 'ब्रह्मवाद' संज्ञाके साथ 'साकार' विशेषण और जोड़ा "**साकारब्रह्मवादैकस्थापकः**" (सर्वो.स्तो.८). वह इस स्तोत्रके ही मंगलाचरणगत "**ब्रह्म प्राकृत धर्मोंका आश्रय नहीं होता और अप्राकृत निखिल-धर्मरूप होता है, ऐसा निगमोंमे प्रतिपाद्य शुद्ध साकार तत्त्व वह है**" (सर्वो.स्तो.१) ऐसी पदावलीके अन्तर्गत प्रयुक्त 'शुद्ध' एवं 'साकार' रूप दोनों पदोंके दृढ़ीकरणार्थ है. यह पुनः ब्रह्म अपने कारणस्वरूपतया प्राकृत या मायिक गुणधर्मोंका आश्रय न हो कर अप्राकृत गुणधर्मोंका तादात्म्येन आश्रय होता है, इस तथ्यके उपपादनार्थ है.

वैसे इसका भी औचित्य तो स्वयं महाप्रभुकी "**शुद्ध ब्रह्म साकार होता है, माया तो उसकी उत्तम शक्तिरूपा होती है, उस मायाके कारण अज्ञानी जीवोंमें सर्वत्र विषयसम्मोह पनप जाता है जिस मोहसे साक्षाद् भक्ति द्वारा ही कोई मुक्त हो पाता है**" (सुबो.१।७।४) इस कारिकाके आधारपर भी सिद्ध तो होता ही है. इसके अलावा स्वयं ब्रह्मसूत्र "**साक्षादपि अविरोधं जैमिनिः**" (ब्र.सू.१।२।२८) के भाष्यमें ब्रह्मकी साकारता या साकारकी ब्रह्मता का विचार करते हुवे भाष्यकारने तीन सम्भावित वैकल्पिक पक्ष गिनाये हैं : १ब्रह्म स्वेच्छया आकारग्रहण करता है २ब्रह्म परेच्छया तत्तदधिकारोंके अनुरोधवश तत्तज्जीवैकग्राह्य आकारवान् बनता है ३ब्रह्म अपने विलक्षण स्वरूप या स्वभाव के अनुसार साकार भी है और आकारोंके परिच्छेदसे रहित व्यापक भी. इस सन्दर्भमें भाष्यकारने यद्यपि ब्रह्मसूत्रकार बादरायणको श्रुतिके शब्दबलपर आश्रित होनेवाले ब्रह्ममीमांसक माना, तो जैमिनिको शब्द और अर्थ यों उभयबलपर आश्रित होनेवाले, आश्मरथ्यको शब्दको गौण मान कर अर्थबलपर आश्रित होनेवाले ब्रह्ममीमांसक, तो बादरिको केवल अर्थबलपर आश्रित होनेवाले ब्रह्ममीमांसक माना. इन चारोंमें महर्षि बादरायण और महर्षि जैमिनि की चिन्तनप्रणालीमें प्रभेद होनेपर भी दोनोके निष्कर्ष समान हैं यह प्रतिपादन करते हुवे भाष्यकार कहते हैं "**जैमिनिका भी सिद्धान्त साकारब्रह्मवाद ही है**" (ब्र.सू.भा.१।२।२८) अर्थात् महर्षि बादरायणको जो अभिमत है.

इसमें भी लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि कार्यसृष्टिमें प्रत्यक्षतया गृहीत होते रूप नाम कर्म आदि गुणधर्मोंके बीज यदि कारणतत्त्वमें निहित न मानें तो आकस्मिक मानने पड़ेंगे. इस आकस्मिकताको भी आकस्मिक मानना तो हमारे दैनंदिन अनुभव-व्यवहारसे विसंगत दृष्टि ही अपनाने जैसी कथा बन जाती है. इसके बजाय बौद्ध दर्शनमें प्रतीत्यसमुत्पाद या श्रौत दर्शनमें लीलार्थ आविर्भाव-तिरोभाव के नियमको स्वीकारनेपर आकस्मिकता स्वयं आकस्मिक न हो कर अकस्मात् प्रतीत होते कार्योत्पादमें किसी निगूढ़ हेतुको इंगित करती सी लगती है. अतः कारण तत्त्वमें निगूढ़ या तिरोहित आकार कार्यमें प्रकट या आविर्भूत होते माने गये हैं. यह दिखलानेको ही पिता-पुत्र दोनों ही उस ब्रह्मरूप कारणतत्त्वको "शुद्ध साकार/साकृति" कह रहे हैं.

ब्रह्मवाद शुद्धाद्वैतवादके रूपमें :

अस्तु. फिरभी वाल्लभ वेदान्तका यह विशेषाभिधान उतना प्रचलित नहीं हो पाया जितना कि 'शुद्धाद्वैतवाद' प्रचलित हुवा. यह तो एक प्रकट वास्तविकता ही है कि इन पिता-पुत्रोंके कालमें निजमतके अभिधानतया 'शुद्धाद्वैतवाद' संज्ञा निर्धारित हो नहीं पायी थी. वह तो बहुत बादमें तत्त्वार्थदीपनिबन्धयोजनाकार श्रीबालकृष्ण भट्ट तथा रश्मिकार श्रीयोगी गोपेश्वरजी के कालमें प्रचलित हुयी होनी चाहिये.

इस ऐतिहासिक तथ्यका सर्वाधिक प्रबल प्रमाण हम अवतारवादावलीकार श्रीपुरुषोत्तमजीके ग्रन्थोंमें पाते हैं. वहां कहीं 'शुद्धाभेद' तो कहीं 'शुद्धाद्वय' तो कहीं 'शुद्धाद्वैत' आदि अनियत पदोंका प्रयोग मिलता है. वह भी कभी तो स्वमतके रूपमें, तो कभी शांकरमतके अभिधानार्थ भी प्रयुक्त दिखलायी देता है. अतः इस तथ्यकी पुष्टि होती है. इस अनिश्चित प्रयोगान्वितिके निदर्शनार्थ "**शुद्धाभेदवाद भी दुष्ट होनेसे न्यायसामञ्जस्यार्थं तादात्म्य ही अंगीकार करके श्रुत्यर्थका निर्णय करना चाहिये**"-"**प्रमाणबलसे शुद्धाद्वैत स्वीकृत होनेके कारण कोई दोष नहीं होता**" (सुबो.प्रका.२।१।५-६) ये दो वचन भी पर्याप्त

हैं. हम देख सकते हैं कि 'शुद्धाभेद' और 'शुद्धाद्वैत' वैसे तो पर्यायवाची पद होनेपर भी विभिन्नार्थकतया इन पंक्तियोंमें प्रयुक्त हुवे हैं.

इस प्रसंगमें, किञ्चिद् विषयान्तरकी क्षमायाचनापूर्वक, यह स्पष्टीकरण दे देना आवश्यक लगता है कि सम्प्रति हम श्रीवल्लभवंशज गोस्वामिओंकी एकमात्र निष्ठा व्यावसायिक हवेलिओंमें धनिकोंकी और सरकारी मन्त्रिओंकी चाटुकारिता द्वारा अपने लाभ-पूजाकी अभिवृद्धिमें ही अपना परम श्रेय माननेकी रूढ़ हो गयी है. अतः सम्प्रदायप्रवर्तक मूलाचार्योंको भी अपने जैसा ही हम मानने लगे हैं श्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजार्य अथवा श्रीमध्वाचार्य आदि किसी भी आचार्यने सरकारी मान्यताके वश आचार्यत्वलाभ नहीं किया था. फिरभी हमें अपनी मानसिकताके अनुरूप, किन्तु, ऐसा लगता है कि महाप्रभुका आचार्यत्व तत्कालीन किसी राजा या राज्य द्वारा प्रदत्त या मान्य न होनेपर उनके माहात्म्यमें कुछ न्यूनता आ टपकेगी. अतएव मिथ्याप्रचार करते हैं कि विजयनगरसाम्राज्यद्वारा कनकाभिषेककी बिरुदावलीमें ही **''शुद्धाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्तक''** विशेषण महाप्रभुके नामके साथ जोड़ा गया था जबकि महाप्रभुकी दक्षिणयात्राके समय कृष्णदेवराय राजसिंहासनपर आरूढ़ नही हो पाये थे और जब वे आरूढ़ हुवे तब महाप्रभुके दक्षिणयात्राके वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होते वे कृष्णभक्त अवश्य थे परन्तु श्रीशंकराचार्यको ही अपना गुरु मानते थे यह शांकर पीठको दिये गये ताम्रपत्रोंके आधारपर स्पष्ट ही है. सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात तो यही लगती है कि न तो महाप्रभु और न प्रभुचरण के ग्रन्थोंमें 'शुद्धाद्वैत' नाम कहीं अपने मतके अभिधानतया उल्लिखित हुवा है

बादमें, जैसा कि महाप्रभुकी उल्लिखित कारिका **''शुद्ध साकार ब्रह्म''** के पदोंके फलितार्थके रूपमें ब्रह्माद्वैतके साथ 'साकार'के बजाय 'शुद्ध' पद अधिक अर्थवाहक लगता होनेसे मध्यमपदलोपनद्वारा 'शुद्धाद्वैत'वाद अभिधान प्रचलित हो गया. वैसे पारिभाषिक पदके रूपमें 'शुद्धाद्वैतवाद' अभिधान परवर्ती विद्वानोंकी अच्छी सूझबूझ होनेके कारण ग्राह्यतर तो लगता है परन्तु वह कथा भिन्न है.

फिरभी उसे मूलाचार्याभीष्ट निजमतके स्वरूपके सन्दर्भमें लोकप्रचलित व्याख्यासे उसे पृथक्तया समझ रखना भी आवश्यक लगता है.

शुद्धाद्वैतवाद शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके अनुसार :

'शुद्धाद्वैतवाद'की लोकप्रचलित व्याख्या, 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' नामक प्रक्रियाग्रन्थके लेखक श्रीगिरधरजी (वि.सं.१८४७) के द्वारा 'शुद्ध'पद और 'अद्वैत'पद के पदकृत्य दरसानेके कारण, लोकमानसमें रूढ़ हो गयी है. अतएव 'शुद्धाद्वैत' अभिधान भी शुद्धाद्वैताभिमत ब्रह्मकी तरह व्यापक बन गया वैसे स्वयं उन्होंने भी इतना तो सुस्पष्ट शब्दोंमें स्वीकारा ही है-

''नाम और रूप, या ईश्वर और जीव, अथवा कार्य और कारण यों दो रूपोंमें जिन-जिनका ज्ञान होता हो उन्हें 'द्वीत' कहते हैं. द्वीत होना ही 'द्वैत' कहलाता है. जो द्वैत न हो उसे 'अद्वैत' कहा जाता है. ऐसा अद्वैत 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्' इस श्रुतिमें कहा गया है. इस श्रुतिवचनमें सारे विश्वका पहले 'इदं'पदसे परामर्श हो रहा है. पुनः 'सर्व'पद द्वारा इस विश्वमें जो कुछ दिखलायी या सुनायी देता है, ऐसे विश्वकी समग्रताके बारेमें बोध होता है. अतः सभी कुछके सनातन ब्रह्मरूप होनेके विधानमें दोनोंका तादात्म्य प्रतिपादित हो रहा है. ब्रह्मरूप कार्यका ब्रह्मरूप ही कारण होना चाहिये... वही ब्रह्म साकार सर्वशक्ति एकमेव अद्वितीय सर्वज्ञ सर्वकर्ता और सच्चिदानन्दरूप होता है. ऐसे ब्रह्ममेंसे यह जगत् उत्पन्न हुवा है.''

(शुद्धा.मार्त.३-८).

यह हम निःसंकोच स्वीकार सकते हैं कि इस तरहकी तो सिद्धान्तनिरुक्ति न केवल अतीव प्रामाणिक अपितु अतिस्फीत तथा अवश्यज्ञातव्य है. बादमें, परन्तु, जहां विचार्य ब्रह्मवादके प्रतिपक्षतया तुलनात्मक आलोचनार्थ जो मायावादका उपन्यास किया गया कि-

''यहीं शांकर विद्वानोंका कहना है कि यह जगत् मायिक है नश्वर है. ब्रह्म तो मायाके साथ सम्बन्धके कारण ही जगत्का कारण बनता है. अन्यथा वह बन ही नहीं सकता... ऐसे मतके निरसनके लिये 'अद्वैत'पदके साथ 'शुद्ध'पद जोड़ा गया है. अतः 'शुद्धाद्वैत'पदमें कर्मधारय समास समझना चाहिये. अथवा शुद्ध जीव और शुद्ध ब्रह्म के अद्वैतका प्रतिपादन विवक्षित माननेपर षष्ठीतत्पुरुष समासके द्वारा

भी यही अर्थ प्रकट हो जाता है. जिसका मायाके साथ सम्बन्ध न हो उसे 'शुद्ध' कहा जाता है. कार्यकारणरूप शुद्ध ब्रह्म मायिक नहीं होता, शुद्धाद्वैतकी प्रतिपादिका श्रुतिका ऐसा अभिप्राय माना गया है.''

(शुद्धा.मार्त.२२-२९).

इस समास और पदकृत्य के प्रतिपादनमें, मुझे अपनी अल्पमतिके अनुसार, मूलाचार्योंके अभिप्रायसे बहुत वैषम्य प्रतीत होता है.

शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके पदकृत्यकी समीक्षा :

सर्वप्रथम आपत्ति तो 'शुद्धाद्वैत'के पदकृत्यमें जो मुझे लगती है वह यों हैं : श्रुत्यभिप्रेततया वाल्लभ मतके लिये अंगीकृत अभिधान 'ब्रह्मवाद' पदके पर्यायतया ही 'शुद्धाद्वैतवाद'पद यदि माना जाये तो उसके ऐसे पदकृत्यके कारण व्याख्येय 'ब्रह्मवाद' पदका यह विवरणरूप होना चाहिये नकि मायावादके अपोहनार्थ केवल. **''साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारगो मायावादनिराकर्ता सर्ववादिनिरासकृत्''** (सर्वो.स्तो.८-९) वचनमें निरूपित महाप्रभुके नामोंकी संगतिके विचारसे अपोहनको उपपन्न भी मानें, तब भी ब्रह्मवादके अंगीकारद्वारा अस्वीकरणीय अन्य अनेक वादोंके बारेमें इस 'शुद्धाद्वैत'पदको मौनव्रतकी दीक्षा अनुचित लगती है. अर्थात् ''मौनं सम्मतिलक्षणम्'' अनुचित लगता है.

दूसरी आपत्ति इस तरहके अन्यापोहनात्मक अर्थवाले पदकृत्यमें जो मुझे अतीव असन्तोषकारिणी लगती है, वह यह कि वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंकी अपने-अपने वादोंके या धारणाओंके प्रामाणिक होनेका प्रमुख दावा तो मूलतः श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण-इतिहास-आगमादि शास्त्रवचनोंके समन्वयप्रदर्शन द्वारा एक निश्चित मतकी घोषणाका ही होना चाहिये. नकि एकदेशिओंके आपसी मतभेदोंके निरसनार्थ अतः इसे वेदान्तजल्प या वेदान्तवितण्डा के रूपमें प्रस्तुत करना उचित नहीं लगता. वह तो निजांगीकृत वादके आनुषंगिकतया शक्य होनेपर भी, प्रमुख प्रयोजनतया मान्य नहीं हो सकता है. अतः 'शुद्धाद्वैत'पदघटक 'शुद्ध'पद

द्वारा व्यावर्तनीय केवल माया अथवा केवल मायावाद को स्वीकारनेपर शुद्धाद्वैतमत श्रौत वाद न रह कर जल्प या वितण्डा में पर्यवसित हो जाता है.

तीसरी आपत्ति यह है कि मान कर चलें कि महाप्रभुसे पांच सौ वर्षपूर्व यदि मायावादके पुरस्कर्ता भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यका प्रादुर्भाव न हुवा होता तो क्या महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य श्रुत्यादि शास्त्रोंके बारेमें अपना कोई स्पष्ट मन्तव्य प्रस्तुत नहीं कर पाते क्या? यदि करते तो उस मतका अभिधान जैसे 'ब्रह्मवाद' हो सकता है, वैसे ही व्यावर्तनीय मतके अभावके कारण 'शुद्धाद्वैतवाद' हो नहीं पायेगा. अतः यथापरिभाषित 'शुद्धाद्वैतवाद' महाप्रभुप्रयुक्त 'ब्रह्मवाद' पदका सर्वात्मना पर्यायवाची हो नहीं पाता है.

अतः इसे 'ब्रह्मवाद'का पर्यायवाचक मानना हो तो 'शुद्ध'पदद्वारा व्यावर्तनीय केवल माया नहीं प्रत्युत स्वयं महाप्रभुद्वारा परिगणित माने जा सकते **''प्रपञ्च प्रकृतिका विकाररूप नहीं है, परमाणुओंके परस्पर जुड़नेके कारण बना हुवा नहीं है, मायाके द्वारा प्रदर्शित भ्रान्ति नहीं है, अदृष्ट आदि किसी अनजाने कारणवश प्रकटा भी नहीं है, और न इसे यह पहले नही था परन्तु बादमें उत्पन्न होनेवाला भी माना जा सकता है. प्रपञ्च तो उसी परमकाष्ठापन्न कर्ताकी स्वयंमें प्रकट हुयी कृति है, इतना ही नहीं, अपितु भगवद्रूप भी है''** (त.दी.नि.प्र.१।२३) इस वचनमें विधेयतया एवं व्यावर्त्यतया जो भी कुछ विवक्षित हो ऐसे सम्पूर्ण अर्थके अभिधायक 'अद्वैत' और 'शुद्ध' दोनों ही पद होने चाहिये.

हम देख सकते हैं कि 'शुद्ध'पदसे व्यावर्त्यतया परिगणित माने जा सकते *''प्रपञ्च प्रकृतिका विकाररूप नहीं है, परमाणुओंके परस्पर जुड़नेके कारण बना हुवा नहीं है, मायाके द्वारा प्रदर्शित भ्रान्ति नहीं है, अदृष्ट आदि किसी अनजाने कारणवश प्रकटा भी नहीं है, और न इसे यह पहले नही था परन्तु बादमें उत्पन्न होनेवाला भी माना जा सकता है''* इस वाक्यांशमें केवल मायाके ही व्यावर्तनके बजाय अन्य भी-और उन्हें भी परिगणिततया सीमित न कर देनेको-'आदि'पद रख कर महाप्रभुने ब्रह्मेतरतया उपस्थित या सम्भावित सभीको व्यावर्तनीय माननेपर भार दिया है. यह तो ब्रह्मकी **'सर्ववादानवसररूपा'** (त.दी.नि.प्र.१।७०) मूलरूपताको लक्ष्यमें रख कर जिन्हें व्यावर्तनीय मानना पड़ता हो उनके व्यावर्तनकी

निषेधात्मिका प्रक्रियाके द्वारा 'शुद्धाद्वैत'पदके घटक 'शुद्ध'पदका पदकृत्य निरूपित हुवा. पर इस 'शुद्धाद्वैत'के मूलमें रहे 'ब्रह्मवाद' पदके स्वारस्यका विचार कर एक विधानात्मिका प्रक्रियाद्वारा ब्रह्मको 'नानावादानुरोधी' भी मान कर महाप्रभुने प्रस्तुत की है :

''वस्तुतः तो श्रुतिमें जो अनेकविध निरूपण ब्रह्मके बारेमें उपलब्ध होते हैं, उसका मूल प्रयोजन अनेकविध तत्त्वप्रतिपादक वाक्योंकी एकवाक्यता इंगित करना है. क्योंकि विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण ब्रह्म तो यद्यपि सर्वभवनसमर्थ है तथापि तत्तद् वादोंका आग्रहिलतया प्रतिपादन करनेवाले चिन्तकोंका भाव उसे सर्वभवनसमर्थतया मान्य रखनेका नहीं होता है. अतः ब्रह्मको किसी भी वादकी परिधिमें न घिरनेवाला माना जाता है. अन्यथा सभी चिन्तक जो भी कुछ तात्त्विक उद्भावना कर पाते हों उन सभीके अनुसार ब्रह्म उनके प्रति वैसा अपना स्वरूप प्रकट कर सकता है. अतः प्रत्येक वाद ब्रह्मके ही तत्तद् धर्मोंका प्रतिपादक बन जाता है.''

''श्रीकृष्ण परं ब्रह्म हैं और अक्षरब्रह्म सच्चिदानन्दक. उस अक्षरब्रह्मका एक रूप लोकविलक्षण (भगवद्धामात्मक) होता है दूसरा सर्वलोकात्मक. लोकविलक्षण अक्षरस्वरूपमें सर्वलोकरूप अक्षरका निरूपण विभिन्न वादी विभिन्न रीतिसे करते हैं : कोई उसे मायिक, कोई प्राकृत, परमाणुओंके संघातके रूपमें, कोई स्वतन्त्र आदि-आदि. श्रुतिका मत, परन्तु, यह है कि वही अनेकरूप धारण करता है.''

(त.दी.नि.प्र.१।७०,सिद्धा.मुक्ता.३-५).

अतः ब्रह्म यदि अनेक रूप धारण करने समर्थ हो तो सृष्टिकारणतया किसी भी रूपके व्यावर्तनकी अपेक्षा रह नहीं जाती.

अवशिष्ट रही 'अद्वैत'पदके विवरणकी अपेक्षा तो *प्रपञ्च उस परमकाष्ठापन्न कर्ताकी स्वयंमें प्रकट हुयी कृति है, इतना ही नहीं,* अपितु भगवद्रूप भी है ऐसी

पदावलीके प्रयोगद्वारा 'अद्वैत'पदसे विवक्षितका भी व्याख्यान महाप्रभुने प्रकट कर दिया है. यहां यद्यपि कार्यकारणभावके द्वैतके सन्दर्भमें ही ब्रह्मतादात्म्यरूप अद्वैत दरसाया गया है. उसे परन्तु धर्मधर्मी, अवतारावतारी, अंशांशी, वाच्यवाचक, मूलरूप-भावानुरोधिरूप, प्रमाणप्रमेय या साधनफल आदि के द्वैतोंमें भी योजनीय तो मानना ही पड़ेगा.

अतएव चतुर्थ आपत्ति इस विषयमें यह एक और है कि शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार प्रस्तुत पदकृत्यद्वारा 'शुद्धाद्वैत'का रूप केवल कार्य-कारणभावमें परिसीमित कर रहे हैं जबकि ''प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्'' (ब्र.सू.३।२।२८) सूत्रके व्याख्यानमें भाष्यकार तो सुस्पष्ट

शब्दोंमें-

''ब्रह्मके धर्म क्या ब्रह्मसे भिन्न, ब्रह्मके कार्यरूप होते हैं या ब्रह्मरूप ही? ऐसा संशय होनेपर कोई यह सोच सकता है कि लोकमें कार्यभूत पटका रूप पटका धर्म ही तो होता है, पटमें समवेत होनेके कारण, इनके नित्य होनेमें कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता, इन्हें स्वाभाविक मान कर नित्य मानने जानेपर तो कल्पनागौरवका दोष भी लगता है, 'एकमेव अद्वितीयम्' श्रुतिवचनसे विरुद्ध होनेके कारण ब्रह्मधर्मोंको भिन्न भी मानना शक्य न होनेसे, उन्हें प्रपञ्चकी तरह कार्यरूप ही मान लेना चाहिये. ऐसे पूर्वपक्षके समाधानतया सूत्र कहते हैं : 'प्रकाशाश्रयवद् वा'.

यहां 'वा'शब्दद्वारा पूर्वपक्षका निवारण किया गया. जैसे अनेकविध प्रकाशोंके आश्रय सूर्य आदि, अपने धर्मीसे पृथक्तया कहीं सिद्ध न हो पानेके कारण और प्रकाशरूप गुणधर्म भी सदैव धर्मीके भीतर स्थित रहता होनेसे भी, न तो धर्मी प्रकाशसे भिन्न होता है और न अभिन्न ही. यों प्रकाशमान धर्मिद्रव्य और प्रकाशरूप गुणधर्म, मूलसे विच्छिन्नतया भी अपने आधारमें विद्यमान न रहते होनेसे भी, न भिन्न और न अभिन्न होते हैं. साथ ही साथ सूर्यके प्रकाशको स्वयं सूर्यरूप भी माना नहीं जा सकता, क्योंकि वह सूर्यसे अधिकदेशवर्ती भी होता ही है. अतः द्रव्यके स्वभावसिद्ध धर्मके रूपमें

उसे मानना पड़ता है. अतः ब्रह्म और उसके धर्मों के बीच भेदको कल्पित भी मानना हो तो जैसे सूर्य और प्रकाश के बीच भेदकल्पना की जाती है, वैसे ही मानना चाहिये. इन्हें ''राहुके सिर''की तरह नहीं. क्योंकि अन्यथा ब्रह्मज्ञानार्थ वेदमें प्रवृत्ति शक्य नहीं रह जायेगी. सकल धर्मोंका निषेध कर देनेपर अन्तमें निषेधके अधिकरणके रूपमें अथवा इन धर्मोंके एक ब्रह्मरूप धर्मीमें सामानाधिकरण्य के द्योतनार्थ भी 'सत्य' 'ज्ञान' 'अनन्त' 'आनन्द' पदोंके अर्थोंका बोध शक्य नहीं रह जायेगा. लक्षणा वृत्तिके द्वारा बोध प्रकट करना अभिलषित हो, तब भी पदके वाच्यार्थरूप धर्म और लक्ष्यार्थरूप धर्मोंका सादृश्य तो अपेक्षित ही रहेगा. अतः विलक्षण धर्मवाले प्रकाशको और उसके धर्मी या आश्रय के बीच तादात्म्य स्वीकारना पड़ता है.''

(ब्र.सू.भा.३।२।२८).

शुद्धाद्वैतवादको ब्रह्मवादके पर्यायवाचकतया स्वीकारनेपर अपेक्षित सावधानी :

उल्लिखित भाष्यवचनके आधारपर सिद्ध हो जाता है कि न केवल कार्यकारणभाव अपितु धर्मधर्मिभाव, अवयवावयविभाव, धामधामिभाव, वाच्यवाचकभाव, मूलरूप-भावानुरोधिरूप, आदि अनेकरूपोंमें ब्रह्मवादके अन्तर्गत इतरेतरतादात्म्य अंगीकरणीय है.

अतः उसे केवल कार्यकारणभावमें परिसीमित कर देनेवाला पदकृत्य प्रस्तुत नहीं करना चाहिये. वाल्लभ वेदान्तमें भेद अकल्पित हो या कल्पित हो, वह **''शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः''** (पा.यो.सू.१।९) सूत्रोक्त ''राहुके शिर''की तरह विकल्पवृत्तिका गोचर नहीं माना गया है. वह तो तादात्म्यरूप ही माना गया है. क्योंकि अद्वैतके इस प्रकारमें द्वैत वस्तुगत न हो कर केवल शब्दज्ञानानुपाती असत् ही होता है, जबकि शुद्धाद्वैतका घटक अद्वैत ऐसा नहीं होता कि वह केवल शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्य द्वैतका सहिष्णु हो. वह तो वस्तुगत द्वैतका भी सहिष्णु होता है. अतएव अधिकरणतावच्छेदकोंके भेदवश द्वैत और द्वैतात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य भी उसे नहीं माना गया. उदाहरणतया

शाखावच्छेदेन वृक्षमें कपिसंयोग और मूलावच्छेदन कपिसंयोगका अत्यन्ताभाव भी हो सकता है. तद्वत् ये द्वैत या अद्वैत नहीं होते. इसे भलीभांति समझना हो तो केवलाद्वैतवादमें जैसे मिथ्यात्व, जो न सद्रूप होता है, न असद्रूप और न सदसद्रूप ही, प्रत्युत इन तीन कल्पोंसे अतीत सदसद्विलक्षण होता है, तद्वत्. एकत्वात्यन्ताभावरूप भेद, भेदात्यन्ताभावरूप अभेद और उनके समानाधिकरणरूप भेदाभेद यों इन तीनोंसे विलक्षण ही तादात्म्यरूप अभेद या अद्वैत शुद्धाद्वैतवादमें माना गया है. इसे प्रकाश और प्रकाशमान द्रव्य के परस्परद्वैतके उदाहरणमें देखा जा सकता है. न तो वहां एकत्वका अत्यन्ताभाव होता है, क्योंकि प्रकाशके घनीभूत या पिण्डीभूत सूर्यद्रव्यमें अभ्रान्तिगोचर एकत्व अनुभूत होता ही है. साथ ही साथ उस घनीभूत प्रकाशपिण्डसे बाहर निकल कर प्रसृत होती प्रकाशकिरणोंमें अभ्रान्तिगोचर द्वित्व भी अनुभूत होता है. अतः दोनोंके बीच न तो एकत्वका अत्यन्ताभाव होता है और न द्वित्वका अत्यन्ताभाव होता है.

यह तो ठीक है कि ''यह एक; और, वह एक. यों मिल कर दो'' ऐसी अपेक्षाबुद्धिके वश द्वित्व घटित होता है. अतः प्रश्न पूछा जा सकता है कि ऐसे अपेक्षाबुद्धिजन्य द्वित्वको वस्तुगत माननेके बजाय बोधगत धर्म ही क्यों न मान लेना? इस तरहकी, परन्तु, यौक्तिक आपत्ति स्वयं एक वस्तु और दूसरे वस्तुबोध के द्वित्वका अवलम्बन लिये बिना उभर नहीं पाती. और तब पुनः इस वस्तु और वस्तुबोध के द्वित्वको बोधगत मानना या वस्तुगत? यों इस समस्याका समाधान खोजने जानेपर तो स्वयं हमारी बोधशक्ति ही या तो अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोषोंका शिकार बन जाती है. अतः स्वीकारना पड़ता है कि सभी तरहके द्वित्व सापेक्षबुद्धिप्रयुक्त न हो कर कुछ अनवगततया वस्तुगत भी रहते ही हैं. बुद्धिमें, किन्तु, उनका अवभासन सापेक्ष प्रत्ययोंके बिना शक्य नहीं हो पाता. उदाहरणतया किन्हीं दो व्यक्तिओंका पितापुत्र या पतिपत्नी होना हमें अपेक्षाबुद्धिके प्रयोग बिना अवगत न होनेमात्रसे कल्पित नहीं सिद्ध हो जाता. वह सम्बन्ध पूर्वमें अनवगत रहनेपर भी इतरेतरसापेक्षबुद्धिसे गोचर बननेपर अवगत भी बन जाता है.

प्रमुखतया विचारणीय मुद्दा इसमें यही है कि तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्लीमें ब्रह्ममीमांसाके अन्तर्गत सर्वप्रथम स्वरूपलक्षण **''ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त रूप होता है''** (तैत्ति.उप.२।१) ऐसा श्रुतिने दिखलाया. बादमें भृगुवल्लीमें

''जिसमेंसे इन सब भूतोंका जनन होता है, जिसमें जननके बाद ये जीवित रहते हैं, जिसकी ओर ये मुक्तिमें प्रयाण करते हैं और जिसमें प्रलयमें लीन होते हैं, उस ब्रह्मकी जिज्ञासा करो क्योंकिं उसे ही 'ब्रह्म' समझना चाहिये'' (तैत्ति.उप.३।१) ऐसा कार्यलक्षण भी दिखलाया है. ब्रह्मका स्वरूप परिभाषित होता है उसके असाधारणधर्मोंके आधारपर और ऐसे ही ब्रह्मकी कारणता निर्धारित होती है उसके कार्योंका निरूपण करनेपर. अतः स्वाभाविक रूपमें लक्षण और प्रमाण के घटक पदोंसे यदि वह वाच्य न होता हो तो अलक्षित एवं अप्रमाणित तत्त्व ब्रह्मतया सिद्ध नहीं हो पायेगा.

ऐसी स्थितिमें यदि ब्रह्मका अद्वैत द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित होता तो उसके सिद्धिकी भी अपेक्षा रह नहीं जानी चाहिये थी. क्योंकि किस तत्त्वकी सिद्धि? किस प्रमाणके या किस लक्षणके आधारपर? किस प्रमाताके संमुख? इन प्रश्नोंका समाधान खोजने जानेपर ब्राह्मिक अद्वैत बाधित हो जायेगा. अतः अबाधित सिद्धिके अभावमें उसके होने या न होनेसे कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा. यों एक उभयतःपाश जो यहां उभरता है उसका दो तरहसे समाधान खोजा जा सकता है :

(१)लक्षण-प्रमाणोंसे निरपेक्ष स्वतःसिद्ध निजात्मचेतनारूप ब्रह्मके ऊपर असिद्ध होनेका पहले मिथ्यारोप लगा कर बादमें मिथ्यालक्षण और मिथ्याप्रमाण को घड़ कर, उनके बलपर उसकी मिथ्यासिद्धिका अध्यारोप कर, अन्तमें उनका भी अपवाद कर देना. उदाहरणतया अद्वैतद्योतक १ संख्याको द्वित्वद्योतक अध्यारोपित २ संख्यासे जोड़ कर मिलती ३ संख्याकी पुनः २ से बाक़ीरूप अपवाद करनेपर १ ही शेष रहता है.

(२)अपने-आपमें एकमेवाद्वितीय होनेके कारण ब्रह्म स्वरूपदृष्टिसे लक्षण-प्रमाणमूलिका सिद्धिकी अपेक्षा नहीं रखता है. फिरभी क्योंकि वह लीलया अनेकवद्भावापन्न हुवा है, अतः लीलाविर्भूत ऐच्छिक अनेकताको स्वयं उसके आत्मप्रकाशनके विस्ताररूप मान लेना. नाम-रूप-कर्मोंकी विविधताको लीलार्थ परिगृहीत रूपतया परिभाषित भी और प्रमाणित भी करके.

इसमें प्रथम कल्पमें द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षित अद्वैत प्रस्तावित होता है जबकि दूसरे कल्पमें द्वैत द्वैतात्यन्ताभाव और दोनोंका सामानाधिकरण्य यों तीनोंसे अतीत तुरीय तादात्म्यकोटि या भावात्मक अद्वैत प्रस्तावित हो पाता है. अतएव भाष्यप्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजीका एक विधान यहां मननीय है **''जैसे 'अमित्र' पदका अर्थ न तो मित्र होता है और न मित्रका केवल अभाव ही. जब हम किसीको अपना 'अमित्र' कहते हैं तो हमारा अभिप्राय होता है, ऐसे किसी व्यक्तिके बारेमें, जो या तो शत्रु हो या फिर अनजान ही कोई व्यक्ति हो; पर हमारा मित्र न हो... इसी तरह 'अभेद' पदका अर्थ भी न भेद होता और न भेदात्यन्ताभाव ही किन्तु भेदविरोधी किसी तरहका भाव होता है. यह भावरूप हो कर अपने आश्रयसे अविनाभूत अर्थात् अपने आश्रयको छोड़ जो अन्यत्र विद्यमान नहीं होता. इसे अन्योन्याभावरूप भेद भी माना नहीं जा सकता''** (अणुभा.प्रका.३।२।२८).

'अभेद' या 'अद्वैत' के घटक 'नञ्' निपातके जो छह अर्थ हो सकते हैं उनमेंसे प्रसंगोपात्त अभाव और विरोधिता सम्भव हैं. अतः द्वैताभाव भी अर्थ हो सकता है और द्वैतविरोधी धर्मान्तर भी. जैसे 'असुर'पदमें सुर या देवता का अभाव अर्थ न ले कर देवताओंके विरोधी दैत्य या राक्षस अर्थ ही लिया जाता है. क्योंकि कैलाशमें महादेवकी संनिधिमें दोनोंका सहभाव भी शक्य माना ही गया है. इसी तरह ब्रह्म और नाम-रूप-कर्मों अवतारों अंशों या गुणधर्मों के बीच परस्पर तादात्म्य होनेके कारण द्वैत और अद्वैत का सहभाव शक्य है. शक्य तो विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण द्वैत और द्वैतात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य भी है. परन्तु 'शुद्धाद्वैत'पदके घटक 'अद्वैत'पदमें 'नञ्'निपात अभावार्थक विवक्षित न हो कर विरोधार्थक ही अभिप्रेत है.

'शुद्धाद्वैत'का प्राणोपम तादात्म्य भेदाभेदरूप नहीं किन्तु चतुर्थकोटि है :

इस वैषम्यके प्रकट होनेका प्रमुख हेतु मुझे ऐसा लगता है कि शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार इतरेतरतादात्म्यको महाप्रभुके जिस सुबोधिनीवचनके आधारपर भेदाभेदके रूपमें निहारना चाहते हैं, उसकी वास्तविकता यह है कि उस वचनमें भेदाभेदकी उपपत्ति

तादात्म्यके लक्षण ''भेदसहिष्णुः अभेद'' के आधारपर दी गयी है. स्वयं महाप्रभु तादात्म्यको ऐसे स्वीकारना नहीं चाहते है. अतः उस वचनको अविकलरूपमें एक बार देख लेना उपकारक होगा–

''भगवान्के स्वरूप एवं चरित्र का निरूपण भेददृष्टि रख कर नहीं करना चाहिये. अन्यथा, भगवच्चरित्रके भगवदात्मक न रह जानेपर, चरित्रका श्रवण–कीर्तन–भावन करनेवालेके भीतर संसारासक्ति ही बढ़ेगी. अतः भगवान्के स्वरूप और चरित्र का निरूपण अभेददृष्टि रख कर, कर रहे हैं 'यह विश्व स्वयं भगवान् है' ऐसे विधानद्वारा. लोकप्रतीतिके आधारपर सिद्ध विश्वको उद्देश्य बना कर उसके भगवान् होनेका यहां विधान किया जा रहा है. अतः विश्वमें सर्वत्र भगवद्दृष्टि रख कर उसे निहारनेपर जीव कृतार्थ हो जाता है. यहां भगवान्के कार्यरूप जगत्को भगवान्के रूपमें निहारनेकी बात समझायी गयी है...

उत्तम मध्यम और अधम अधिकारोंके भेदवश भगवान्को तीन प्रकारसे निहारा जा सकता है, यह प्रतिपादन यहां अभिप्रेत है. अब उत्तम अधिकारीको विश्व कैसे दिखलायी देता है यह समझा देनेके बाद मध्यम अधिकारीको कैसे दीखता है, यह दिखलाया जा रहा है : उसे यह विश्व भगवान्की तरह दिखलायी देता है परन्तु साक्षाद् भगवद्रूप नहीं. अर्थात् भगवत्सदृश दिखलायी देता होनेसे विश्वका या विश्वान्तर्गत रूप–नाम–कर्मोंका आदर आदि भगवान्की तरह करना, उसे उचित लगता है. फिरभी आसक्ति तो भगवान्में ही साक्षात् निभानी चाहिये, विश्वके पदार्थोंमें नहीं. ऐसा मध्यमाधिकारीको प्रतीत होता है. इसी तरह जो निकृष्ट अधिकारी होता है उसे तो लोकप्रतीतिसिद्ध यह विश्व भगवान्से भिन्न ही लगता है. अतएव जिसे यह प्रपञ्च केवल प्रपञ्चतया ही दिखलायी देता हो, वह जब भी बहिर्मुखतासे ग्रस्त होता है, तो शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है. एक ही विश्वकी या भगवान्की तीन तरहसे प्रतीति कैसे हो सकती है, यह समझानेको कहते हैं 'जिन भगवान्मेंसे इस विश्वकी स्थिति उत्पत्ति और निरोध होते हैं'. अर्थात् विश्व भगवान्में ही स्थित होनेके कारण भगवद्रूप है, ऐसी प्रतीति उत्तमाधिकारीको होती है. विश्व भगवान्मेंसे उद्भव हुवा होनेके कारण कार्यकारणके बीच तादात्म्य होनेसे कार्यात्मना विश्वमें भेद होनेपर भी कारणात्मना अभेद होता है. यों भेदसहिष्णु अभेद होनेके कारण विश्व भगवद्रूप न होनेपर भी भगवत्सदृश इन मध्यमाधिकारियोंको लगता है. इसके विपरीत जो मूढ़ अधिकारी होते हैं, उन्हें तो भगवान् विश्वका उपसंहार करते होनेसे विश्व नश्वर और भगवान् अनश्वर ही प्रतीत होते हैं.''

(सुबो.१।५।२०).

इस वचनमें मध्यमाधिकारीको होती विश्वकी अनुभूतिमें तादात्म्यके उल्लेखके कारण शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारको वह भेदाभेदरूप लगता है. अतः मध्यमाधिकारक अनुभूतिका विषय लगता है. वे स्वयं कहते **''कार्यरूपेण भेद होनेपर भी कारणात्मना अभेद होनेके कारण यहां भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य अनुभूतिगोचर होता माना गया है''** (शुद्धा.मार्त.३२). वैसे महाप्रभुको अभिमत ब्रह्मवाद या शुद्धाद्वैतवाद में न केवल कार्यकारणका तादात्म्य अपितु अंशांशितादात्म्य और धर्मधर्मितादात्म्य आदि प्रकारके भी तादात्म्य हैं ही. अतएव **''तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'शब्दादिभ्यः''** (ब्र.सू.२।१।१४) अधिकरणमें कार्यकारणतादात्म्यकी तरह ही अंशांशितादात्म्य भी **''इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः''** (ब्र.सू.२।१।२१) भी विवक्षित है ही. इसी तरह **''अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः''** (ब्र.सू.१।२।२१) अधिकरणमें धामधामितादात्म्य भी **''अक्षरकी भी ब्रह्मरूपता है और पुरुषकी भी. दोनोंके बीच परापरभाव भी है ही और अभेद भी. ब्रह्मवाद तो ऐसा ही होता है. अक्षरब्रह्मसे विश्वकी उत्पत्ति निरूपित हुयी होनेसे उसे ब्रह्मरूप मानना पड़ता है कि वह अदृश्यत्व आदि गुणवाला परमात्माका एक स्वरूप है. पुरुषोत्तमकी तो ब्रह्मरूपता शंकातीत है. ईषद् आनन्दके तिरोभाववश ब्रह्मको 'अक्षर' कहा जाता है और पूर्णानन्दकी आविर्भूतताके कारण उसे 'पुरुषोत्तम' भी.''** (ब्र.सू.भा.१।२।२१) इस तरह हम देख सकते हैं **''परमात्मा अपने जेसे स्वरूपद्वारा प्रकृति–पुरुषके (कारणकोटिके) रूपोंको धारण करता है उसे 'अक्षर' कहते हैं... इस अक्षरका पुरुषोत्तमके साथ अभेदके निर्धारणका प्रकार–अक्षर अपने मूलरूप पुरुषोत्तमसे विच्छिन्नतया या कार्यतया नहीं प्रत्युत अविच्छिन्नतया सर्वदा स्थित होने अभिन्न माना जाता**

है... यों ब्रह्मके तीन प्रभेद हुवे अन्तर्यामी अक्षर और कृष्ण.'' (त.दी.नि.प्र.२।९८-१२१). अतः स्वरूपकोटिमें अन्तर्निविष्ट माने जाते अक्षरब्रह्मके साथ भी तादात्म्य तो अंगीकार्य ही है. ऐसी स्थितिमें सिद्ध हो जाता है कि कार्य-कारणके बीच रहे तादात्म्यको भी भावरूप अभेद मानना चाहिये नकि भेदाभेदरूप.

अतः शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार जब उसे केवल कार्यकारणभावमें योजित करना चाहते हैं तब लक्ष्यमें रखने लायक तथ्य यही है कि **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं-तत् त्वम् असि''** (छान्दो.उप.६।८।७) वचनके प्रथमांशमें उपादानोपादेयभावात्मक और द्वितीयांशमें अंशांशिभावात्मक तादात्म्य एकहेलया मान्य किया गया है. अतः केवल ऐसी विवक्षा स्वीकारनेपर 'शुद्धाद्वैत' पदमें अव्याप्तिदोषकी आपत्ति आती है. वास्तविकता जबकि यह है कि यह इतरेतरतादात्म्य सदंशकार्यरूप जड़ और सच्चिदानन्दरूप उपादान या समवायी कारणरूप ब्रह्म के बीच कार्यकारणभावात्मक माना गया है. चिदंशरूप जीवात्मा और सच्चिदानन्दरूप परमात्माके बीच अंशांशिभावरूप भी माना गया है. परन्तु स्वयं सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म और उसके सत्ता चैतन्य आनन्द रूपी धर्मो के बीच यह इतरेतरतादात्म्य धर्मधर्मिरूप भी माना गया है. और अक्षरपुरुषोत्तमके बीच आधाराधेयभावरूप भी. अतः इसपर दुर्लक्ष्य हो जानेके कारण शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार तादात्म्यको भेदाभेदरूप मान कर चले हैं.

'शुद्धाद्वैतपरिष्कार' में मिलते 'शुद्धाद्वैत'लक्षणकी परीक्षा :

अतः महाप्रभुके अन्यान्य वचनोंके अभिप्रायका विमर्श करनेपर ऐसा प्रतिपादन अप्रामाणिक नहीं तो भी सर्वथा असमीक्षित तो लगता ही है. शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके शिष्य श्रीरामकृष्ण भट्टने अपने 'शुद्धाद्वैतपरिष्कार' नामक ग्रन्थमें दिखलाये-

''इतरसम्बन्धानवच्छिन्न-कार्यकारणादिरूप-द्वित्वप्रका-रक-ज्ञानप्रतियोगिताका-ऽभाववत्त्वं शुद्धाद्वैतत्वम्.''

(शुद्धाद्वै.परि.).

इस लक्षणमें कुछ सावधानियां तो अच्छी ली हैं परन्तु फिरभी अस्पष्टता भी बिलकुल साफ झलकती ही हैं. यहां 'कार्यकारणादिरूप-द्वित्वप्रकारक' पदोंमें केवल कार्यकारणभावात्मक द्वैतके बजाय 'आदि'पदसे अंशांशिभाव आदिके द्वैतोंको भी स्थान तो प्रदान किया गया है. इसी तरह ऐसे कार्यकारणभाव या अंशांशिभाव आदिको भी 'मायासम्बन्धानवच्छिन्न' कहनेके बजाय

'इतरसम्बन्धानवच्छिन्न' कहना भी एक अच्छी सूझ है. फिरभी 'इतरसम्बन्ध...' दलके पदकृत्यमें **''कार्यकारणादिद्वित्वप्रकारकपदार्थस्य मायिकत्वाभावाय''** खुलासा दे कर पुनः 'शुद्ध'पदद्वारा व्यावर्त्य केवल शांकर वेदान्ताभिमत मायाको ही पकड़ लिया होनेसे 'इतर'पदसे मिलनेवाले लाभको पुनः खो दिया

इसी तरह प्रदर्शित अव्याप्तिदोषके परिहारके प्रयासरूपेण लक्षणकार कहते हैं **''धर्मधर्मिभावरूप सम्बन्धके उदाहरणमें कार्यकारणभावरूपद्वित्व न होनेसे अव्याप्ति नहीं मान लेनी चाहिये, क्योंकि धर्मधर्मिभाव अभेदरूप होता है, ऐसा 'प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्' सूत्रके आधारपर निर्णीत है. 'परा अस्य शक्तिः' जैसे वचनोंमें भी अभेदार्थक षष्ठी स्वीकारी गयी होनेसे भी (वे अलक्ष्य हैं)''** इससे ऐसा लगता है कि श्रीरामकृष्ण भट्टजी धर्मधर्मिभाव और शक्तिशक्तिमान के बीच द्वैत न मान कर किसी तरहका अद्वैत खोज रहे हैं. उसे, परन्तु, क्या भेदासहिष्णु द्वैतात्यन्ताभावरूप अभेद मानना अथवा द्वैतविरोधी कोई भावरूप पदार्थ? प्रथम कल्पमें स्वरूपानुपपत्तिरूप दोष आयेगा. और द्वितीय कल्पका समाश्रयण करनेपर तो 'घटट्टकुट्यां प्रभात'न्याय ही होगा क्योंकि तादात्म्यसे उसे पृथक्तया लक्षित कर पाना दुष्कर हो जायेगा

जहां तक धर्मधर्मिभावसे विपरीततया कार्यकारणभावरूप द्वैतके भेदसहिष्णु अभेद होनेकी बात है, तो इस विषयमें यह अनुसन्धेय है कि महाप्रभुको अभिप्रेत कार्यकारणभाव आविर्भावतिरोभावात्मक है. महाप्रभु इन्हें पुनः भगवान्‌की शक्ति ही मानते हैं **''आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः''** (त.दी.नि.२।१४०). अब शक्ति-शक्तिमान्‌के बीच भेदासहिष्णु या भेदसहिष्णु कैसा भी अद्वैत क्यों न माने वह कार्यकारणभावपर भी लागू तो होगा ही. क्योंकि किन्हीं दो शक्तियोंको आविर्भाविका या तिरोभाविका माननेके बजाय आविर्भाव और तिरोभाव को शक्तिरूप माना गया है. वैसे अन्यथा भी पत्रावलम्बन और सर्वनिर्णयप्रकाश के अवलोकन करनेपर इस विषयमें जो चित्र उभरता है वह निहारने लायक है :

''जो 'आवि'=प्रकट करता हो उसे 'आविर्भाव' कहते हैं. अथवा आविर्भूत होना एक धर्मविशेष है. इसी तरह तिरोभावके बारेमें भी समझना चाहिये. ये दोनों भगवान्‌की शक्तियां हैं, क्योंकि भगवान्‌में अनन्त शक्तियां होती हैं. अन्यथा बीज आदिके परिणामतया देह आदि कैसे प्रकट हो सकते हैं? अतः भगवान्‌की शक्ति ही कारणतया स्वीकारनी चाहिये क्योंकि आविर्भावरूप धर्मके

कारण ही घटरूप धर्मी सिद्ध हो पाता है... ऐसा न स्वीकारनेपर तो प्रागभावनिवृत्तिरूप उत्पत्ति माननेवालोंको भी इन दोषोंसे बचना कठिन हो जायेगा. क्योंकि उत्पत्ति भी तो एक धर्म है ही जिसका कोई धर्मी तो होना ही चाहिये. उस उत्पत्तिको किस धर्मीका धर्म मानना?... जो भी कोई वस्तु इस उत्पत्तिरूप धर्मका धर्मी मानी जाये उसे उत्पत्तिसे पूर्वसिद्ध तो मानना ही पड़ेगा... अतः धर्मीको सनातन माने बिना कोई उपाय शेष नहीं रह जाता है. अब ऐसा धर्मी तो ब्रह्म परमात्मा भगवान् ही हो सकते हैं. अन्य कोई नहीं, अद्वैतश्रुतिके कारण. अतः आविर्भावरूप धर्मके घटादिरूप धर्मीका ब्रह्मत्व या भगवत्त्व भी स्वीकारना ही पड़ेगा. इसीके साथ जुड़ा हुवा पीछे-पीछे चला आयेगा आविर्भावरूप धर्मका भी ब्रह्मत्व या भगवत्त्व.''

(त.दी.नि.प्र.२।१४०).

इस प्रतिपादनका फलितार्थ विचारनेपर कार्यकारणभाव या धर्मधर्मिभाव अथवा शक्ति-शक्तिमद्भाव के द्वैत या अद्वैत के स्वरूपोंमें किसी तरहका प्रभेद महाप्रभुको मान्य हो ऐसा प्रतीत तो होता नहीं है. अतः अकारण तादात्म्यको भेदाभेदरूप माननेके बजाय भेदाभेदातीत तुरीयकोटि मानना ही उपपन्न होता है. अतः 'शुद्धाद्वैत'पदके घटक 'अद्वैत'पदको भावरूप अभेदात्मक या तादात्म्यरूप मान कर 'शुद्ध'पदसे यदि किसी पदार्थकी व्यावृत्ति स्वीकारनी हो तो वह ब्रह्मेतरतया प्रतिभात या सम्भावित सभीकी व्यावृत्ति माननी ब्रह्मवादके व्याख्यानतया अनिवार्य लगती है.

इसके अलावा इस लक्षणके अन्तर्गत एक और विशेष उल्लेखनीय बात **''द्वित्वप्रकारकज्ञानप्रतियोगिताक अभाववान्''** शुद्धाद्वैत माना गया है. इसे सरल शब्दावलीमें समझना हो तो किसी विशेष प्रकारके ज्ञानका कहीं न होना उसका शुद्धाद्वैतलक्षणविशिष्ट होना है. जहां तक अन्यान्य वेदान्तसम्प्रदायोंके मतोंसे इस शुद्धाद्वैतलक्षणके असंकीर्ण होनेकी बात हो तो श्रीपतिभगवत्पादाचार्यके विशेषाद्वैतसे इस लक्षणके आधारपर पृथक् कर पाना दुष्कर लगता है. रही इस अभाववत्ताकी कथा तो क्या इसे विषयविषयिभावरूप सम्बन्धप्रयुक्त लेनी या आश्रयाश्रयिभावरूप सम्बन्धप्रयुक्त लेनी? यदि विषयविषयिभाव सम्बन्धप्रयुक्त लेते हैं तो ''ये घट और पट दोनों भिन्न हैं'' ऐसे बोधमें न तो घट और पट के

बीच कार्यकारणभाव होता है और न अंशांशिभाव या व्याप्यव्यापकभाव ही. ऐसी स्थितिमें कार्यकारणाभावादिप्रयुक्त द्वित्व न होनेके कारण वैसा द्वित्वविशिष्ट-घट-पट-विषयक भेद ज्ञानमें भासित नहीं होगा. अतः ऐसे ज्ञानके विषयतया घटपटभेदको भी शुद्धाद्वैतरूप मानना पड़ेगा. यदि इसे इष्ट ही मानें तब भी ''लक्षण और प्रमाण से वस्तु सिद्ध होती होने''के नियमके अनुरोधवश लक्षणौचित्यके विमर्शके समय शुद्धाद्वैतके साध्य होनेसे ही शुद्धाद्वैतज्ञान प्रत्यक्षबाधित हो जायेगा. यदि इसे श्रुतिप्रामाण्यके प्राबल्यवश बाधित न भी मानें तब भी शुद्धाद्वैत अन्योन्याभावरूप भेदका पारिभाषिक पदमात्र रह जानेसे लक्षणकी अन्यथोपपत्ति गलेपतित होगी.

अतः ज्ञानाभाववत्ताको आश्रयाश्रयिभावरूप सम्बन्धप्रयुक्त मानते हैं तो शिला आदि जड़ पदार्थोंमें, निर्विकल्पकज्ञानवान् अथवा मूर्छित या निद्रित पुरुषोंमें भी अतिव्याप्त मानना पड़ेगा. **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो. उप.३।१४।१) श्रुतिवचनके आधारपर सभी कुछ ब्रह्मरूप होनेसे सर्वत्र शुद्धाद्वैतके अभीष्ट होनेकी बात कही जाय, तब तो शांकरोंकी मायावादानुसारी मतिको भी सर्वके अन्तर्गत ब्रह्मरूपतया मान्य कर लेना उचित होनेसे, शुद्धाद्वैतके लक्षणमें इतरव्यावर्तनकी अपेक्षा ही रह नहीं जायेगी. शुद्धाद्वैतके लक्षणपरिष्कारमें उभरी इस असमञ्जसताके बीज ग्रन्थकारके गुरु शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके तादात्म्यको भेदाभेदरूप माननेके असमीक्षिताभिधानके वश ही हुयी लगती है. अतएव शुद्धाद्वैतमार्तण्डकारके-

''शुद्धाद्वैतविदोंकी प्रतीति तो उत्तम है परन्तु भेदाभेदकी प्रतीति मध्यमकक्षाकी जाननी चाहिये. अतः शुद्धाद्वैतके अनुरोधवश मध्यमकक्षाकी प्रतीतिको भी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी तथा श्रीमदाचार्यचरणने भी कहीं-कहीं मान्य रखी है.''

(शुद्धा.मार्त.३४-३५).

इस उद्गारका फलितार्थ स्वयं महाप्रभुको अभिमत शुद्धाद्वैतके स्वरूपसे स्वतन्त्र शुद्धाद्वैतके प्रतिपादनार्थ है अथवा श्रीमदाचार्यचरण तथा श्रीपुरुषोत्तमजी के शुद्धाद्वैतसम्बन्धी प्रतिपादनोंको सर्वत्र शुद्धाद्वैतपरक लेनेके बजाय भेदाभेदपरक लेते रहनेकी सावधानीका निर्देशन है, यह स्फुट नहीं हो पाता अस्तु.

शुद्धाद्वैतवादका श्रौत मूल तथा तुलनात्मक स्वरूप :

ब्रह्म तत्त्व यदि उपनिषत्प्रतिपाद्य हो तो सभी वेदान्तके सम्प्रदायोंका इस अर्थमें ब्रह्मवादी होना तो अनुक्तसिद्ध ही है परन्तु ब्रह्मके तथा ब्रह्मसे उत्पन्न और उसमें स्थित और लीन होनेवाले जड़जीवात्मक जगत्के परस्पर सम्बन्धोंकी व्याख्याओंमें आधारभूत उपनिषद्वचनोंके पार्थक्यके कारण वेदान्तके चिन्तनमें अनेकविध सम्प्रदायोंका उद्भव कैसे हुवा, इस तुलनात्मक तथ्यके अवलोकनार्थ अधोनिर्दिष्ट श्रुतिवचनावली तथा श्रुतिव्याख्यावली पर दृष्टिपात आवश्यक लगता है :

(१)केवलाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते.

(व्याख्या)

सजातीय विजातीय स्वगत भेदात्यन्ताभावोपलक्षित + मायोपाधिक व्यावहारिक/प्रातिभासिक भेद

(२)औपाधिकद्वैताद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते.

(व्याख्या)

कारणरूपका अद्वैत + शक्तिकार्यभूतोंका द्वैत

(३)विशिष्टाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + यः पृथिव्यां तिष्ठन्...अन्तरो यमयति

(व्याख्या)

विशिष्टका अद्वैत + विशेषण-विशेष्योंका और विशेषणोंका द्वैत

(४)द्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ

(व्याख्या)

स्वगतसजातीय-द्वैतराहित्य + पारमार्थिक विजातीयद्वैत

(५)विशेषाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + स यथा नद्यः...समुद्रंप्राप्यअस्तंगच्छन्तिभिद्यन्ते तासांनामरूपेसमुद्रइत्येव

(व्याख्या)

सभी स्वाभाविकभेदभिन्नोंका ब्रह्मान्तर्लयार्ह अद्वैत + अनादिसान्त पारमार्थिक द्वैत

(६)अविभागाद्वैतमत

(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति

(व्याख्या)

आकाशोपमनित्याविकारि-अधिष्ठानमेंअविभागरूपअद्वैत + सृष्टिमेंअनित्यनामरूपविभाजनरूपद्वैत

(७)शुद्धाद्वैतमत

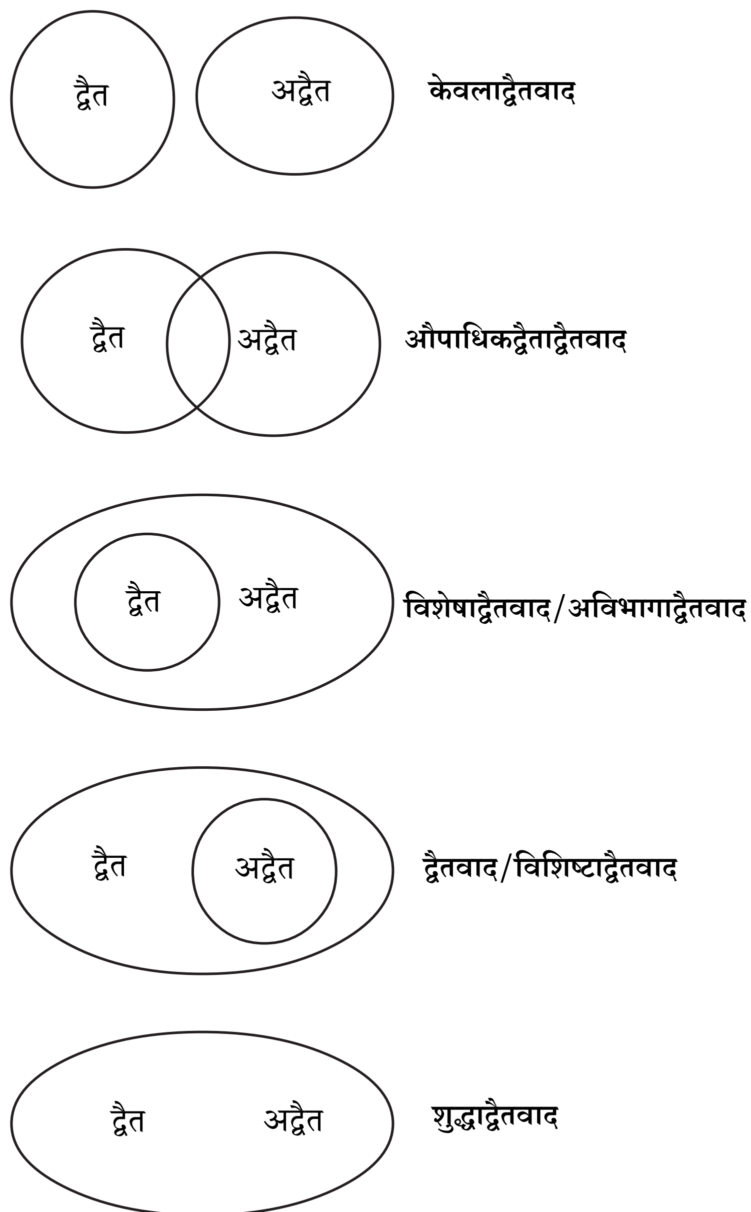
(वाक्य)

एकमेवाद्वितीयं + तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय

(व्याख्या)

ब्रह्मस्वरूपस्वाभाविक अद्वैत + नाम-रूप-कर्म-जीवननानात्वरूप ऐच्छिक द्वैत

वेदान्तके इन विविध सम्प्रदायोंमें अभिप्रेत द्वैत एवं अद्वैत के परस्पर सम्बन्धमूलक स्वरूपभेदोंको रेखात्मक प्रतीकचित्रोंद्वारा भी एक बार निरख कर सुनिर्धारित कर लेना उपयुक्त होगा. अतः द्वैत और अद्वैत दोनोंके दो-दो वृत्त बना कर उनके परस्पर अन्तर्भाव या बहिर्भाव को यों चित्रित किया जा सकता है :



वेदान्तके विविध सम्प्रदायोंद्वारा उनकी धारणाओंके मूलमें रहे श्रुतिवचन और उनकी विविध व्याख्याओंके विहंगावलोकन करनेपर एक बात तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि इन सभीके बीच ब्राह्मिक अद्वैतके बारेमें मतभेद उतने अधिक नहीं है जितने कि उस ब्रह्मके साथ जड़जीवात्मक जगत्के सम्बन्धको ले कर मतभेद तीव्र हुवे हैं. दूसरी बात यह कि किसी न किसी तरहका द्वैत तो- और किसी न किसी तरहका अद्वैत-सभी सम्प्रदायोंको अभिप्रेत है ही. अतः हम देख सकते हैं कि ''भेद है या अभेद?'' इस प्रश्नको ले कर मतभेद उतने नहीं उभरे हैं जितने द्वैत है तो कैसा है और अद्वैत है तो कैसा? यों 'द्वैत' या 'अद्वैत' पदोंके साथ जोड़े जाते विशेषणोंके कारण मतभेद उभरे हैं. द्वैताद्वैतवादी होनेपर भी श्रीभास्कराचार्य 'औपाधिक' विशेषण द्वैताद्वैतवादके साथ जोड़ना चाहते हैं, तो श्रीपतिभगवत्पादाचार्य अद्वैतवादके साथ 'विशेष' विशेषण जोड़ना चाहते हैं, तो श्रीविज्ञानभिक्षु अद्वैतवाद के साथ 'अविभाग' विशेषण जोड़ना चाहते हैं. इसी तरह शुद्धाद्वैतवादका मतभेद समीपतरवर्ती इन अवधारणाओंके साथ इस अर्थमें है कि अद्वैत यहां स्वाभाविक है तो द्वैत ऐच्छिक है. अतः द्वैतका सर्वथा अस्वीकार तो शांकर वेदान्तमें भी उपलब्ध नहीं होता. क्योंकि वहां भी पारमार्थिक अनौपाधिक अद्वैतके साथ ही साथ व्यावहारिक और प्रातिभासिक मायोपाधिक द्वैत तो मान्य रखे ही गये हैं.

ब्रह्मवादके आधारपर प्रस्तावित शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिकी पारिभाषिकता :

अतः उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मके अंगीकारके अर्थमें तो वेदान्तके सभी सम्प्रदाय ब्रह्मवादी हैं ही परन्तु एतावता सभीको शुद्धाद्वैतवादी माना नहीं जा सकता. इसी तरह भारतीय दर्शनमें उदाहरण न भी मिल पाये परन्तु पाश्चात्य दर्शनमें Idealistic Monism बाह्य जगत्को काल्पनिक मान कर उसके अधिष्ठानभूत तत्त्वके अद्वैत होनेके सिद्धान्तकी तुलनामें, बाह्य जगत्को वास्तविक मान उसके उपादानभूत तत्त्वके भावरूप अद्वैत होनेका सिद्धान्त Realistic Monism प्लोतिनस्, जॉन्ह् स्कॉटस् एरिजेना, कूसा निकोलस्, तोमासो केम्पानेला, बारुक़् स्पिनोज़ा, शीलिंग् और ए.एन्. व्हाईट्हेड् जैसे दार्शनिकोंके चिन्तनमें भी मिलता ही है. ये सभी किसी न किसी प्रकारसे शुद्धाद्वैतवादका ही समर्थन करते हैं. अतः शुद्धाद्वैतवादके प्रत्येक प्रकारमें उसका ब्रह्मवादपर अवलम्बित होना भी सिद्ध नहीं हो पाता.

अतः महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको जो अभिमत हो सके ऐसे शुद्धाद्वैतवाद और ब्रह्मवाद के बीच पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करना आवश्यक हो जाता है.

जैसा कि हम देख चुके तदनुसार श्रुतिप्रतिपाद्य यदि ब्रह्म एकमेव अद्वितीय हो अर्थात् सजातीय विजातीय एवं स्वगत भेदोंसे विवर्जित हो तो द्वित्वप्रकारक ज्ञानका विषय वह मूलस्वरूपेण तो हो नहीं सकता. अतः जब ऐसे उस ब्रह्मके बारेमें श्रुति कहती है कि **''यह दृश्यमान् सभी कुछ पहले ब्रह्म ही था. उसने अपने–आपके बारेमें सोचा कि 'मैं तो ब्रह्म हुं' अतएव वह सभी कुछ बन गया''** (बृह.उप.१।४।१०) तो ऐसी स्थितिमें ब्रह्मके भीतर जो कार्यकारणभाव या अंशांशिभाव प्रकट हुवा, उनमें कार्य या अंश और कारण या अंशी दोनोंका ही ब्रह्मात्मक होना आवश्यक हो जाता है. अन्यथा स्वगत भेदकी आपत्ति आयेगी, ब्रह्मका कोई सजातीय या विजातीय पदार्थ न भी हो तब भी. ऐसी स्थितिमें 'अद्वैत'पदके साथ 'शुद्ध' विशेषण जोड़नेपर किस अन्यका व्यावर्तन शक्य मानना? यह प्रश्न उठता है. इस प्रश्नका समाधान खोजने जानेपर श्रुतिके अनुसार या स्वमतमें तो कोई व्यावर्तनीय मिल नहीं सकता. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

''ब्रह्मवादके विचार करनेपर तो किसी भी तरहकी निरुक्ति या लक्षण (लक्ष्येतरके व्यावर्तनार्थ) प्रस्तुत नहीं किया जा सकता. क्योंकि जब सभी कुछ ब्रह्म हो तो, न तो ब्रह्मेतरतया व्यावर्तनीय कोई वस्तु हो सकती है और न ब्रह्ममें ऐसा कोई इतरव्यावर्तक असाधारण गुणधर्म ही माना या दिखलाया जा सकता है. अतः ब्रह्ममेंसे ऐच्छिक भेदभिन्न लोकके प्रकट होनेके बाद ही (ब्रह्ममीमांसौपयिक लक्षण–प्रमाणनिर्धारणके) व्यवहार सम्भव बनते हैं.''

(पत्रावलम्बन : ३).

इस विधानका मर्म भलीभांति समझना हो तो पुनः उपनिषद्में मिलते ब्रह्मके स्वरूपलक्षण और उसकी श्रुतार्थापत्ति अवलोकनीय हैं. सर्वप्रथम वहां ब्रह्मके स्वरूपलक्षणके रूपमें यह कहा गया कि देशतः कालतः और स्वरूपतः अपरिच्छिन्न

सत्ता और चैतन्य होना ब्रह्मका स्वरूप है. यद्यपि मायावादमें इस सत्ता–चैतन्यकी अपरिच्छिन्नताको तार्किक नियतिसे मुक्त करनेको अविद्यारूपा मायाको सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय स्वरूपानादि और तज्जन्यविषयसृष्टिको सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय प्रवाहानादि माना गया है. यों ब्राह्मिकी सत्ता–चेतनाकी अपरिच्छिन्नतामें बाधक न हो पानेवाली अपारमार्थिकी सत्ता स्वीकार ली गयी है. अतः हम देख सकते हैं कि ब्रह्मकी स्वरूपलक्षणौपयिकी अपरिच्छिन्नताका पक्ष लेनेको ब्रह्मकी कार्यलक्षणौपयिकी अपरिच्छिन्नताके साथ अन्याय हो गया है क्योंकि उपनिषद्में स्वरूपलक्षणके साथ ही साथ दिये कार्यलक्षणमें तो सुस्पष्ट शब्दोंमें यह और कहा गया है कि **''सत्यज्ञानानन्तस्वरूप ब्रह्मात्मामें से ही आकाशादि पञ्च महाभूतरूप सृष्टिमें पुनः ब्रह्मलक्षणाक्रान्त अन्न अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय तथा आनन्दमय यों कोशोपम उत्तरोत्तर अन्तर्वती आत्मरूप प्रकट हुवे हैं.''** (तैत्ति.उप.२।१–५).

अतः हम स्पष्टरूपमें देख सकते हैं कि आत्मसृष्ट आकाशादि जड़रूप और अन्नमयादि जीवरूप, दोनोंमें उपासनार्थ नहीं प्रत्युत स्वयं ब्रह्मरूप आत्माके अनितरसाचिव्यवश सर्वत्र ब्रह्मरूपता प्रतिपादित हुयी है. ऐसी स्थितिमें सदसद्विलक्षण अपारमार्थिक ही सही ब्रह्मेतर किसी कारण पदार्थका ब्रह्मकी अपरिच्छिन्न सत्ता–चेतनाके भवनमें पिछले द्वारसे प्रवेश यदि उपनिषदोंको मान्य होता तो वहां ऐसा कभी कहा नहीं जाता कि–

''जो ब्रह्मकी अपरिच्छिन्न सत्ताचेतनाका अस्वीकार करता है, वह 'मैं नहीं हुं' कहनेवाला असद्भाषी बन जाता है... क्योंकि ऐसा कहनेवाला जब इस लोकका त्याग कर अन्यत्र जाता है तो वह जानेवाला कौन है? जब एक ब्रह्मज्ञानी लोकत्याग करता है तो वह ब्रह्मकी अन्य किसी अवस्था या स्वरूप को प्राप्त करता है या नहीं? वह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करता ही है, क्योंकि ब्रह्मने ही कामना की, कि 'मैं एक अनेक बन जाऊं'... उसीने यह सब कुछ सिरजा और अपनी सृष्टिके भीतर प्रविष्ट हुवा... प्रविष्ट हो कर वही प्रत्यक्ष और परोक्ष जगत् बना. निरुक्त और अनिरुक्त बना. साधार और निराधार बना. विज्ञान और अविज्ञान बना. सत्य और अनृत भी

वही बना. इसलिये यह जो कुछ हो उसे 'सत्य' कहना चाहिये. यह दिखलायी देती सृष्टि पहले नहीं थी और बादमें बनी हों ऐसी लगती हैं (ऐसा परन्तु सचमुचमें नहीं. क्योंकि) उसने अपने-आपको ही सृष्टिके रूपमें निष्पादित किया. अतएव यह उसका सुकृत है. सृष्टिमें जो कुछ है वह उसका सुकृत ही है. वही तो रस है. इसी रसको पा कर आनन्दी बना जा सकता है. अन्यथा इस आकाशमें ब्रह्म भरा हुवा न होता तो कौन सांस लेना चाहता और प्राणी बनना चाहता? उसीके कारण आनन्दानुभूति होती है. जो कोई इस अदृश्य, (क्योंकि वह स्वयं सभीके भीतर आत्मरूप है, कोई उसके भीतर आत्मतया अवस्थित न होनेसे) अनात्म्य, अनिरुक्त तथा निजात्मामें ही प्रतिष्ठित रहता है. ऐसे उसमें जो प्रतिष्ठित हो पाता है उसके सारे भय निवृत्त हो जाते हैं. इस अपरिच्छिन्नमें, परन्तु, जो किसी तरहकी परिच्छिन्नता प्रकट करना चाहता है उसे तो भयभीत ही होना पड़ता है.''

(तैत्ति.उप.२।६-७).

यहां सुस्पष्ट शब्दोंमें अविज्ञान-यदि सत्त्वासत्त्वेन अनिरुक्त रखना हो तब भी-भी सत्यज्ञानानन्त ब्रह्म द्वारा लिया गया एक रूप माना गया है. ऐसी स्वीकृतिके आधारपर इस अविद्यारूपा मायामें भी ब्रह्मकी स्वरूपापरिच्छिन्नता प्रतिपादित हुयी माननी पड़ती है. अतएव महाप्रभु कहते हैं **''सर्वभवनसमर्थ भगवान्‌की प्रकट होनेवाली अनेकानेक शक्तिओंमें विद्या और अविद्या भी दो शक्तियां होती हैं. इनके कारण भगवदंशरूप जीव संसारसे मुक्त या संसारमें बद्ध होते रहते हैं. ये कभी, परन्तु, स्वयं परमेश्वरको प्रभावित नहीं कर पाती''** (त.दी.नि.१।३१). अतः कार्यसृष्टिको भी अब्रह्मात्मिका मानो तभी स्वगत परिच्छेद होता है अन्यथा नहीं. यह सुस्थिर हुवा.

'शुद्धाद्वैत' पदके घटक कर्मधारय और तत्पुरुष समासों द्वारा प्रकट होते द्विविध स्वारस्य :

कोशके अनुसार 'शुद्ध'पदके दो अर्थ होते हैं : १.पूत और २.केवल. अब पूत होनेके अर्थमें ब्रह्म या उसके अद्वैत पर पहले अपवित्र हो जानेके अध्यारोप रखे बिना 'शुद्ध' पद सार्थक हो नहीं पायेगा. और 'केवल' अर्थ लेनेपर तो 'शुद्धाद्वैत'पद पुनः केवलाद्वैत होनेका भाव प्रकट करेगा.

अतः अगतिकतया अध्यारोपित अपवित्रताको अज्ञान संशय अथवा भ्रान्तिवश प्रतीत होती माननी पड़ेगी. अतः ब्रह्मके स्वरूपलक्षणतया ''जो शुद्ध भी हो और अद्वैत भी हो'' ऐसा कर्मधारय समास सोचा जा सकता है. इसका फलितार्थ होगा : ब्रह्मके सजातीयतया या ब्रह्मसे विजातीयतया, कल्पित या संभावित किसी भी पदार्थके कारण, ब्रह्मका अद्वैत अपवित्र नहीं होता.

अथवा 'शुद्ध'पदको केवलार्थक माननेपर पूर्वोक्त 'एकमेव' श्रुत्यंशका पर्यायवाचक 'शुद्ध'पदको मानना चाहिये. अर्थात् ब्रह्मके समान जातिवाला कोई अन्य पदार्थ हो नहीं सकता. इसी तरह 'अद्वैत' पद भी उसी 'अद्वितीय' श्रुत्यंशके पर्यायतया स्वीकारना पड़ेगा कि ब्रह्मसे विजातीय भी कोई पदार्थ हो नहीं सकता.

यों स्वरूपलक्षणार्थक कर्मधारय समासके कारण मिलते अर्थका विमर्श कर लेनेपर तत्पुरुष समासाश्रित 'शुद्धाद्वैत' पदका भाव ब्रह्मके कार्यलक्षणके सन्दर्भमें सोचा जा सकता है.

प्रश्न यहां उठता है कि क्या सजातीय-विजातीय भेदोंसे रहित ब्रह्ममें कार्य-कारणरूपों अथवा अंशांशिरूपोंका प्रादुर्भाव ब्रह्ममें स्वगत भेद प्रकट करेगा कि नहीं? कार्य-अंश आदि रूपोंमें और कारण-अंशी आदि रूपोंमें ब्रह्मेतरतया कल्पित या सम्भावित किसी भी पदार्थके द्वैतसे रहित ब्रह्मको माननेपर ''स्वयं अपनेसे भिन्न नहीं ऐसे शुद्ध कार्यो या शुद्ध अंशों का ही ब्रह्म शुद्ध कारण तथा शुद्ध अंशी बनता है. अतः दोनों शुद्धोंका ही अद्वैत है'' ऐसा तत्पुरुष समासके कारण द्योतित होता है. अतः स्वगत भेद भी आपादनीय नहीं रह जाता.

यहां एक शंका उभरती है कि जड़ पदार्थोंमें चिदानन्दांशके तिरोधानवश जो उत्पत्ति स्थिति विपरिणति वृद्धि अपक्षय और विनाश रूप छह भावविकार अनुभूत होते हैं, वे या तो ब्रह्ममें भी स्वीकारने पड़ेंगे अथवा उन्हें ब्रह्ममें न माननेपर ब्रह्मके सदंशरूप जड़ कार्योंके कारण ब्रह्ममें स्वगत भेदकी आपत्ति तो आयेगी ही. इसी तरह चिदंश जीवमें आनन्दांशके तिरोधानवश देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण और निजस्वरूपके अज्ञान रूपी पांच आविद्यक अध्यास प्रकट होते हैं, वे भी या तो ब्रह्ममें स्वीकारने पड़ेंगे और ब्रह्ममें न स्वीकारनेपर ब्रह्मके चिदंशमें इन आविद्यक अध्यासोंके कारण ब्रह्ममें स्वगत भेदकी आपत्ति आयेगी ही.

इन आपत्तियोंके समाधानार्थ शुद्धाद्वैतवादमें कार्यों या अंशों में सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मकी अनेकधा अन्तर्व्याप्तिपर ध्यान दिलवाया जाता है. नामशः : सदंशोपादनतया, सर्वभवनसमर्थतया तथा सत्यसंकल्पसामर्थ्यके वश स्वान्तर्निहित स्वात्मक नाम-रूप-कर्मोंके आविर्भावकतया, चिदंशोके अंशितया, सर्वान्तर्यामितया, परस्पर सर्वविषमोंमे सर्वसमतया, सर्वरूपतया आदि रूपोंमें. अतः जिन ब्रह्मोपादानक पदार्थोंमें केवल सत्ता या चैतन्य प्रकट अनुभूत होते हैं, वहां भी अवशिष्ट चिदंश या अवशिष्ट आनन्दांश का ऐकान्तिक अभाव माननेके बजाय तिरोभाव ही माना जाता है. अतएव उपादेय कार्य तत्त्वोंमें कारणतत्त्वके तथा अंशोंमें अंशीके भी अन्तर्निहित होनेसे ब्रह्मके भीतर स्वगतभेदके अभावकी आपत्ति अविचारित लगती है, लोकप्रत्यक्षमें ब्रह्मके अन्तर्निहित होनेका तथ्य अनवभासित रहता होनेसे. 'तिरोभाव'पदका अर्थ होता है : किसी वस्तुके विद्यमान होनेपरभी या तो उसकी अर्थक्रियाकारिता प्रकट न होनी या उसकी अनुभूतिगोचरता प्रकट न होनी; या दोनों ही. अतः ऐसी स्थितिमें अज्ञानी जनोंकी प्रतीतिके वश स्वगत भेदकी उभरती आपत्ति वस्तुतः टिक नहीं पाती.

इस विवेचनाके बलपर शुद्धाद्वैतवादकी उदाहरणोपपत्ति-सुवर्णके कुण्डलात्मना परिणत होनेपर भी सुवर्णरूपता न खो देनेके कारण-लौकिक उदाहरणद्वारा दरसायी जा सकती है. ब्रह्मवादके उपपादनार्थ, परन्तु, लौकिक उदाहरण खोज पाना शक्य नहीं. मूलमें इसका कारण यही है कि ब्रह्मको उपादान या समवायी कारण भी माना गया है, तो अविकारी भी माना गया है. कर्ता भी माना गया है और इतरकरणोंकी अपेक्षासे रहित भी.सर्वज्ञ माना गया है तो आनन्दरूपा लीलाओंमें विहारकारी भी. एतावता सिद्ध हो जाता है कि 'शुद्धाद्वैतवाद'को, महाप्रभुके मतके प्रमुख अभिधान होनेके पदपर अभिषिक्त करना हो तो, वह ब्रह्मवादका सहारा लिये बिना शक्य नहीं. 'ब्रह्मवाद'-स्वमतानुरूप परिभाषित या अपरिभाषित अर्थमें भी-पदसे अभिधेय अवधारणाको महाप्रभुके मतके प्रमुख अभिधान होनेके पदपर अभिषिक्त करना हो तो उसे 'शुद्धाद्वैत'पदकी अपेक्षा नियत नहीं लगती है.

शुद्धाद्वैतवादके प्रमुख घटक या आधारभूत आठ वाद :

अतः शुद्धाद्वैतवादको महाप्रभुके मतके प्रमुख अभिधानतया सांगोपांग निहारना हो तो अधोनिर्दिष्ट वाद अनिवार्यतया आधारभूत अवधारणाओंके रूपमें मान्य करने ही पड़ते हैं :

१.ब्रह्मवाद.

२.विरुद्धधर्माश्रयतावाद.

३.अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद.

४.सत्कारणतावाद.

५.सत्कार्यवाद.

६.आविर्भावतिरोभाववाद.

७.कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद.

८.लीलार्थसृष्टिवाद.

इन आठोंके आठों वादोंके उपोद्‌बलक श्रुतिवचन और महाप्रभुके वचनोंमें स्वीकृत उनके निष्कर्ष दोनों ही अणुभाष्यप्रथमाध्यायके प्रथमखण्डकी भूमिकामें दिये ही हैं. सो विशेष जिज्ञासा होनेपर वहींसे देख लेना उपकारक होगा. यहां उनके परिगणनका प्रमुख हेतु यह दरसाना है कि इन आठ वादोंके अन्तर्गत प्रथम और अन्तिम वाद केवल श्रुत्येकगम्य अवधारणायें हैं; जबकि, दूसरेसे सातवें वादोंवाली अवधारणायें लौकिक प्रतीति तथा युक्ति द्वारा गम्य भी तथा उपपन्न भी की जा सकती हैं. इन आठ वादोंको आधारभूत वाक्यतया निहारनेपर अर्थापत्तिद्वारा जो शुद्धाद्वैतवाद सिद्ध होता है, उसे ही महाप्रभुके दार्शनिक चिन्तनके प्रमुख होनेकी पदवीपर अभिषिक्त किया जा सकता है.

यह तो स्पष्ट ही है कि इन आठ वादोंमें महाप्रभुद्वारा अंगीकृत सारी कि सारी दार्शनिक अवधारणायें अन्तर्भूत हो नहीं पाती. उदाहरणतया, प्रपञ्चसंसारभेदवाद, जीवत्रैविध्यवाद, कृपालभ्यत्ववाद, श्रीकृष्णपरब्रह्मत्ववाद आदि भी वाल्लभ मतमें अनेकानेक अतिशय प्राणोपम धार्मिक या दार्शनिक अवधारणायें हैं. ब्रह्मवादके अन्तर्गत, परन्तु, ये सभी आन्तरिक वैचारिक संगतिके वश महत्त्वपूर्ण होनेपर भी

स्वयं ब्रह्मवादके प्रमुख या अविनाभावी अभिप्रायमें आधारभूत या नियत निष्कर्षरूप अवधारणायें नहीं हैं.

इन आठ वादोंके अलावा शुद्धाद्वैतवादमें अभिमत पदार्थमीमांसा, जिसके अन्तर्गत : ब्रह्मकी १.स्वरूपकोटि २.कारणकोटि तथा ३.कार्यकोटि, यों तीन तरहकी कोटियां परिगणित हुयी हैं. इनमें-

(१)सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके धर्मधर्मिभावात्मना विभाजनवश सत्=क्रियाशक्ति, चित्=ज्ञानशक्ति, तथा उभयविधशक्तिविशिष्ट पूर्णानन्दात्मक ऐश्वर्य-वीर्य-यश-श्री-ज्ञान-वैराग्य आदि आनन्दात्मक धर्म तथा आनन्दात्मक आकारवाले स्वरूप, सृष्टिगत मूलतत्त्वप्राप्तिके विविध साधनोंके फलात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम स्वरूप, लीलासृष्टिके अन्तर्गत सदंशभूता जडसृष्टिके नियमनार्थ समष्टि अन्तर्यामी जो सकल गुणावतारों एवं लीलावतारों का अवतारी ब्रह्माण्डमूर्ति परमात्मा 'नारायण' कहलाता है. इस नारायणके अंशभूत चिदंशभूतजीवोंमें अन्तर्विराजमान असंख्य व्यष्टि अन्तर्यामी. उक्त पुरुषोत्तमकी देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न सत्ता तथा चेतना रूपी सर्वकारणकारणभूत अक्षरब्रह्म, जो अपने भीतर सृष्ट्यर्थ काल-कर्म-स्वभावरूपा शक्तिओंको प्रस्फुटित करनेवाला स्वरूप होता है.

(२)ऐसे अक्षरब्रह्मके स्वरूपमें से ब्रह्माण्डके प्राकट्यसे पूर्व कारणकोटितया प्राथमिक विभाजन द्वारा क्रियाशक्तिविशिष्ट अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमोगुणोंकी समष्टिरूपा प्रकृति आविर्भूत होती है. उससे चित्त और बुद्धि यों दो रूपोंमें प्रकट होता महत् तत्त्व. उससे अहंकार. अहंकारसे पांच शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्रा, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रियां. अन्तमें तन्मात्राओंके घनीभाववश प्रकट होते आकाश-वायु-तेजस्-आप्-पृथ्वी. इतनी कारणकोटियां प्रकट होती है.

(३)व्यष्टि तथा समष्टि रूपी कार्यकोटि तो असंख्येय होनेसे उनका वर्गीकरण अनावश्यक माना गया है.

इनका सुविशद निरूपण सर्वनिर्णय, तृतीयस्कन्धसुबोधिनी तथा प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थोंमें हुवा है. अतः विशेष जिज्ञासा होनेपर वहीं इनका अवलोकन सहायक हो सकता है.

इस प्रमेयबहुल पदार्थव्यवस्थामें ब्रह्म तो शास्त्रैकगम्य शुद्धाद्वैत प्रमेय है. ब्रह्मके ऐसे स्वरूपके बारेमें सैद्धान्तिक अवबोधार्थ श्रुति स्मृति सूत्र पुराण आगम आदि अनेक शास्त्रोंकी एकवाक्यतापन्न वचनराशी ही प्रमाण मानी गयी है. उस शास्त्रैकगम्य ब्रह्मकी लीलाके रूपमें प्रकट होनेवाले अनेकानेक नाम-रूप-कर्मोको लौकिक प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे गम्य माना जाता होनेपर भी उनका ब्राह्मिक मूलस्वरूप तो शास्त्रैकगम्य ही माना गया है.

यों ब्रह्मवादाश्रित शुद्धाद्वैतवेदान्तके इस मौलिक रूपको निरख लेनेके बाद अब वादावलीके इस चतुर्थ खण्डमें प्रकाश्यमान ग्रन्थोंके सारके अवलोकनार्थ अग्रसर होना अवसरोपात्त होगा.

१.श्रीहरिरायमहानुभावविरचित पद्यात्मक ब्रह्मवाद :

विषय : सभी उपनिषदोंमें ब्रह्म और प्रपञ्च का अभेद प्रतिपादित हुवा है. उस अभेदका स्वरूप ही यहां प्रतिपाद्य विषय है.

संशय-पूर्वपक्ष : इसमें संशय यह होता है कि हमारी इन्द्रियोंसे गोचर होनेवाला प्रपञ्च यदि ब्रह्मरूप हो तो, ब्रह्मके अगोचर होनेके कारण यह प्रपञ्च भी अगोचर क्यों नहीं रहता? पूर्वपक्षतया इसे ब्रह्मसे भिन्न भी मान लेने उद्यत हो जायें तबभी ब्रह्माद्वैतके ज्ञानीको यह दिखलायी देता बन्द होना चाहिये था. अतः ब्रह्मज्ञानियोंके उदाहरणोंका विमर्श करनेपर उन्हें प्रपञ्च दिखलायी देता होनेके प्रमाणोंके आधारपर प्रपञ्चको ब्रह्मसे भिन्न भी माना नहीं जा सकता. अतः ब्रह्मके साथ न तो अभेद और न भेद ही स्वीकार्य लगता है.

सिद्धान्त : उपनिषदोंमें ब्रह्म और प्रपञ्च का अभेद ही प्रतिपादित मिलता होनेसे, प्रपञ्च, वस्तुतः, जैसा है वैसा हमें दिखलायी नहीं देता. हमारे ज्ञानके उपकरणों या साधनों के अज्ञानसे आवृत होनेके कारण, उस आवरणके रंगमें रंगा दिखलायी देता होनेसे, हमारी अनुभूति प्रमाण नहीं मानी जा सकती. ब्रह्मज्ञान होते ही प्रपञ्चकी ब्रह्मरूपताको आवृत करनेवाला अज्ञान दूर हो जाता होनेसे उसका ब्रह्मात्मक स्वरूप भी अनुभूतिगोचर बनता है. अतः ब्रह्मबोध न होनेपर सत्य भी असत्यतया प्रतीत होता है और ब्रह्मबोध होनेपर असत्य भी सत्यतया

अनुभूतिगोचर बनता होनेसे सभी कुछ ब्रह्मरूप हो जाता है. इस तरहका शुद्धब्रह्मवाद हृदयारूढ़ होनेपर मतमतान्तरोंमें कोई भी महाप्रभुका अनुयायी भ्रमित नहीं हो पाता.

२.श्रीहरिरायमहानुभावविरचित गद्यात्मक ब्रह्मवाद :

विषय : पुष्टिभक्तिमार्गमें माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतो अधिक स्नेहको भक्तिरूप माना जाता है. अतः ऐसी इस भक्तिमें ब्रह्मके माहात्म्यका निरूपण करनेवाले ब्रह्मवादका स्वरूप क्या–कैसा है? अनेक श्रुतियोंमें एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके प्रपञ्चरूपेण आविर्भूत होनेके प्रतिपादनवश मूलतः तो ब्रह्म अद्वयरूप ही होता है. फिरभी अपनी क्रीड़ाके अधिष्ठानतया उसने स्वयं अपने भीतरसे प्रपञ्च प्रकट किया. सो ऐसा माहात्म्य उसका जाननेपर प्रपञ्च भगवान्ने स्वभजनार्थ ही प्रकट किया है, ऐसे ज्ञानवाले पुष्टिजीवको अपने जीवनके प्रयोजनतया भजन समझमें आ पाता है.

संशय–पूर्वपक्ष : संशय यहां यह उभरता है कि एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके भीतर कारण–कार्य और भजनीय–भक्त यों दो–दो रूपोंका अंगीकार करनेपर क्या द्वैतापत्ति नहीं आयेगी? पूर्वपक्षतया यहां यह कहा जा रहा है कि आयेगी ही क्योंकि : [१]यदि ब्रह्म एकाकी हो तो नानारूप वास्तविक नहीं हो सकते. [२]प्रपञ्चको भगवद्रूप माननेपर मोक्षसाधनके उपदेशोंमें प्रापञ्चिक विषयोंके हेय होनेका उल्लेख संगत नहीं हो पाता. [३]स्वयं भगवद्रूप यदि प्रपञ्च हो तो भगवान्के बजाय प्रपञ्चके भजनमें भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये. [४]शुद्धब्रह्मवादके अनुसार जीव स्वयं भी भगवद्रूप होनेसे उसे अपनेसे अतिरिक्त भगवद्रूपका भजन आवश्यक नहीं होना चाहिये. [५]पुष्टिभक्तिमें भगवद्भजन पुष्टिजीवरूप ब्रह्मांशके प्रकट होनेका प्रयोजन ही हो तो ऐसी भजनैकपर्यवसायिनी साधनामें कुछ भी दोषरूप हेय या त्याज्य नहीं होना चाहिये. ऐसी स्थितिमें साधनाचरणके नामपर करने–धरनेको कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता. [६]दोषनिवृत्तिरूप किसी भी प्रकारके साधनोंकी उपयोगिता या आवश्यकता पर भार देनेपर इस प्रकारकी भक्तिको भगवत्कृपासे मिलती 'पुष्टिभक्ति' कहना असंगत हो जायेगा. [७]जीवको तो अभगवदात्मक अंश माननेपर द्वैतापत्ति और भगवदात्मक अंश माननेपर भजनकी निरर्थकता भी गलेपतित होती है. [८]स्वभजनरूपा भगवत्क्रीड़ाकी भगवदिच्छाके वश पुष्टिजीवकी दैवी सृष्टि स्वीकारनेपर

पुष्टिभक्तिकी करणरूपता निरस्त हो जायेगी. [९]जीवोंको भगवान्का अंश माननेपर जीवोंमें दैवी और आसुरी विभाग भी अनुपपन्न हो जाता है. [१०]यदि भगवान् स्वयं पुरुषोत्तमरूपमें बन्धन या मुक्ति प्रदानकी लीला करते हों और अक्षररूपेण कार्य–कारण रूपोंको प्रकट करनेकी लीला भी करते हों तो उनमें प्रकृति या प्राकृत विषयोंमें ही फंसे रहनेवाले आसुरी जीव होते हैं और प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होना चाहनेवाले दैवी जीव होते है, ऐसा विभाग अनुपपन्न हो जायेगा. प्रकृति भी भगवान् द्वारा धारण किये गये अनेक रूपोंमेंसे एक रूप होनेके कारण ऐसा विभाजन उपपन्न नहीं हो पाता. [११]आसुरी जीवोंका लय भगवान्में न मान कर प्रकृतिमें ही मानो तब भी प्रकृति भी तो अन्तमें प्रलयकालमें भगवान्में लीन होती होनेसे आसुरी जीवोंका भी लय भगवान्में भी स्वीकारना ही पड़ेगा.

सिद्धान्त : [१]ब्रह्मके बारेमें श्रुतिमें यह कहा गया है कि सच्चिदानन्दरूपतया एकरूप ब्रह्मके भीतर कुछ भी नाना रह नहीं पाता. नानात्व तो ब्रह्मको न जाननेवालोंके अज्ञानवश वहां प्रतीत होता है. [२]हेयोपादेयके भेद लीलार्थ प्रकट हुवे होनेसे लीलामें यथाधिकार किसी अधिकारीके लिये कुछ हेय होनेपर भी प्रपञ्चकी भगवद्रूपताका बाध नहीं होता. [३]ज्ञानमार्गीय साधनाओंके अन्तर्गत उपासनायें जो उपदिष्ट हुयी हैं, उनमें कुछ उपादेय तो अन्य कुछ हेय माना गया है. ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जानेपर किसी भी विषयके बारेमें उसके हेय होनेकी बुद्धि टिक नहीं पाती. [४]जीवात्माओंकी भगवद्रूपता अंशरूपेण ही है, अंशिरूपेण नहीं. भजन अंशीका कहा जाता होनेसे भगवद्भजन अनावश्यक नहीं सिद्ध हो पाता. [५]भगवल्लीलाके अन्तर्गत पुरुषोत्तमसे अपने–आपको वियुक्त जाननेवालोंको पुरुषोत्तमभजनमें अनुपयोगी पदार्थोंमें हेय या त्याज्य बुद्धि होगी ही. [६]मूलमें तो भजन भावरूप होनेपर ही फलात्मक माना जाता है. उस भावकी अनुभूतिके हेतु किया जाता भजन साधनरूप भी हो ही सकता है, जहां साधनोंकी उपयोगिता रह सकती है. यह सब कुछ भगवत्कृपाके अनुसार ही सिद्ध होता होनेसे कृपारूप भी माना जाता है. [७]जीव भगवान्का भगवदात्मक अंश है. फिरभी भगवद्भजनार्थ भगवान्को अभीष्ट हो तो उसे पुष्टिजीव माना जाता है अन्यथा नहीं. [८]भगवान्को निजभजनार्थ अभीष्ट जीव होना पुष्टिभक्तका स्वरूप होता है और पुष्टिभक्त द्वारा किया जाता भजन साधनरूप भी होता ही है. [९]भगवान्ने निजलीलाके अन्तर्गत किन्हीं दैवी जीवोंको पुष्टिजीव या मर्यादाजीव, तो अन्य किन्हीं जीवोंको आसुरी

भी बनाया है. अतः लीलार्थ विभागमें कोई अनुपपत्ति नहीं. [१०]आसुरी जीवोंमें प्राकृत विषयोंका आकर्षण प्रबल रखा गया है. उन्हें भगवान् अपने पुरुषोत्तमरूपद्वारा आकृष्ट करनेके बजाय अपने प्रकृतिरूपद्वारा आकृष्ट रखते हैं. अतः आसुरी जीवोंका वहीं परायण होना वैसी भगवदिच्छाके कारण होता है. [११]बन्ध-मोक्षप्रदानकी लीला पुरुषोत्तमरूपेण ब्रह्म करता है और सृष्टि-प्रलयकी लीला अक्षरब्रह्मरूपेण. उभयविध लीलाओंके चक्रवत् सर्वदा चलते रहनेसे उभयविध जीवोंका होना कोई आपत्तिजनक बात नहीं मानी जाती. अतः आसुरी जीवोंका प्रकृतिमें आवेष्टित रहते हुवे ब्रह्ममें लीन होना ब्रह्मके अद्वैतभावको हानि नहीं पहुंचाता.

३.श्रीकल्याणरायात्मज-श्रीगोपेश्वरविरचिता वादकथा :

विषय : सर्वोत्तमस्तोत्रके मंगलाचरणमें निगमप्रतिपाद्य शुद्ध साकार ब्रह्ममें प्रकृतिसे प्रादुर्भूत होनेवाले कोई प्राकृत गुणधर्म न होनेपर भी ब्रह्म अपने अप्राकृत गुणधर्मोंरूप होता हैऐसा प्रतिपादन किया गया है. इसे यहां विचार्यविषयतया प्रस्तुत किया गया है.

संशय-पूर्वपक्ष : ब्रह्मका ऐसे तरहका निरूपण उपपन्न है या नहीं? ऐसे संशयके उभरनेपर पूर्वपक्षतया यह आपत्ति उठायी जाती है कि ब्रह्म तो स्वयं अप्राकृत होनेसे प्राकृत गुणधर्म उसमें अविद्यावश ही हो सकते हैं. इसी तरह अप्राकृत गुणधर्मरूप ब्रह्मको मानना हो तो उन्हें ब्रह्मसे भिन्न मानने या अभिन्न? भिन्न माननेपर उस भेदको गुणधर्मस्वरूप मानना, अन्योन्याभावरूप मानना, वैधर्म्यरूप मानना अथवा अन्य कुछ? निगमोंमें अनाविद्यक शुद्ध ब्रह्मको आकाररहित मान कर आविद्यक या उपासनार्थ कल्पित ब्रह्मको साकार या सर्वाकार माना गया है.

सिद्धान्त : सदसद्विलक्षणरूपा प्रपञ्चपरिणामकी उपादानभूता अविद्या तो ब्रह्मकी शक्तिरूपा न हो कारणत्वके अध्यारोपणार्थ उपाधि होती है. ऐसी तो अविद्या मान्य न होनेपर भी ब्रह्म स्वयं जड़जीवात्मक प्रपञ्चके अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतया मान्य है, अतः प्रकृति स्वयं ब्रह्मात्मिका मानी जाती है. ब्रह्म, अपनी अंशिरूपा समग्रतामें, प्राकृत गुणधर्मोंका आश्रय साक्षात् नहीं होता परन्तु प्रकृत्युपादानतया अंशात्मना ही. ब्रह्मके तो अन्य भी ऐसे अनेक रूप होते हैं जहां प्रकृतिजन्य गुणधर्मोंके आश्रयतया उसे माना नहीं जा सकता.

अतः निगमप्रतिपाद्य शुद्ध ब्रह्म ही विरुद्धधर्माश्रय होनेके कारण निराकार पुरुषोत्तमाकार सर्वाकार तथा भक्तादिजन-भाविताकार भी होता है.

४.श्रीगिरिधरविरचितो विग्रहवादः :

विषय : प्रस्तुत वादमें यागादि कर्मोंमें सम्प्रदानीभूत देवता मन्त्रात्मक होते हैं या विग्रहवान् होते हैं, इस विषयपर विचार किया गया है.

संशय-पूर्वपक्ष : संशय यहां इस तरह उभरता है कि देवताओंको विग्रहवान् माननेपर मध्यम परिमाणवाले मानने पड़ेंगे. ऐसी स्थितिमें एक कालमें अनुष्ठित दो समानकर्मोंके अन्तर्गत समान देवता आहूत होनेपर आहूतिग्रहणार्थ कैसे समर्थ हो पायेंगे? अतएव पूर्वपक्षतया देवताओंका स्वरूप मन्त्रात्मक ही मानना उचित है. यदि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मके चिदंशतया विग्रहवत्ता माननी हो तो प्रतिबिम्बवाद अथवा आभासवाद के अनुसार मायामें ब्रह्मके किसी विशेष प्रकारके चित्प्रतिबिम्ब या चिदाभास को विग्रहवान् देवता मान लेना उचित होगा, ब्रह्मकी अद्वितीयताके अनुरोधवश.

सिद्धान्त : ब्रह्मके सच्चिदानन्दरूपतया अद्वितीय होनेपर भी अपने बहुभवनके अप्रतिहत संकल्प तथा सामर्थ्य के वश वह अनेकविध विग्रहवान् देवताओंके रूप भी धारण करता है. अतः सभी यज्ञयागादि कर्मोंमें दी जाती आहूतिका भोक्ता स्वयं ब्रह्म ही होता है.

५.श्रीगिरिधरविरचितो प्रपञ्चवादः :

विषय : प्रस्तुत वादमें प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक होनेसे जो प्रत्यक्षविरुद्ध नित्यता स्वीकारनी पड़ती है उसे कैसे उपपन्न करना यह प्रतिपादित किया गया है.

संशय-पूर्वपक्ष : संशय यहां इस तरहका उभरता है कि ब्रह्मको यदि उपनिषद्में 'एकमेवाद्वितीय' माना गया हो तो उस ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी या तो होना ही नहीं चाहिये अथवा तो अज्ञान या भ्रान्ति के वश कल्पित होना चाहिये. अतएव पूर्वपक्षतया इस बातपर विशेष भार दिया गया है कि प्रपञ्चका त्रैकालिक अभाव होता है. ऐसे अभाववाले प्रपञ्चका आभास अविद्यावश होता है. अतः अविकारी ब्रह्मके अधिष्ठानपर विकारशील प्रपञ्चको प्रमारूप न मान कर भ्रमरूप स्वीकारना ही उचित है.

सिद्धान्त : सिद्धान्तीका कहना है कि उपनिषदोंमें नाम-रूप-कर्मात्मक प्रपञ्चका ब्रह्ममेंसे ही आविर्भाव अनेकत्र निरूपित होनेसे उसे ब्रह्मात्मक ही मानना उचित है. अतः दृश्यमान प्रपञ्चके प्रागभाव प्रध्वंसाभाव और अन्योन्याभाव ही जब सिद्ध नहीं होते तो अत्यन्ताभावकी कथा तो दूरापास्त ही है. अविद्यामेंसे प्रपञ्चका प्राकट्य श्रुतिमें नहीं माना गया है. ब्रह्मके आनन्दमें से उत्पन्न हो कर, आनन्दमें स्थित रहता और आनन्दमें लीन होनेवाला है, ऐसा निरूपित हुवा है. अतः अविकारी ब्रह्ममें विकारी प्रपञ्चकी प्रतीति भ्रान्तिरूपा नहीं लीलारूपा ही माननी चाहिये.

६.श्रीरघुनाथात्मजश्रीव्रजनाथविरचितो ब्रह्मवादः :

विषय : वादकथाकी तरह ही इस वादमें भी सर्वोत्तमस्तोत्रके मंगलाचरणकी पदावलीके आधारपर ब्रह्म प्राकृत विशेषोंसे शून्य तथा अप्राकृत विशेषवद् है, ऐसा उपनिषदोंके आधारपर प्रतिपादन किया है (विषयविवेचनमें पार्थक्यके बावजूद संशय पूर्वपक्ष सिद्धान्त लगभग उसी तरहके होनेके कारण पुनरावृत्ति नहीं की जाती है).

७.श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभकृतः प्रपञ्चसंसारभेदवादः :

विषय : प्रस्तुत वादमें इस विषयकी चर्चा की गयी है कि परस्पर पर्यायवाचकतया प्रयुक्त 'प्रपञ्च' और 'संसार' एक ही अर्थके वाचक हैं या विभिन्न अर्थोंके.

संशय-पूर्वपक्ष : ऐसा संशय उभरनेपर पूर्वपक्षतया यह कहा जाता है कि प्रपञ्चको सत्य और संसारको असत्य मान कर दोनोंके बीच प्रभेद करना उचित नहीं. अतः प्रपञ्चकी तरह संसारका भी आविर्भाव-तिरोभाव ही स्वीकार लेना चाहिये.

सिद्धान्त : संसार ब्रह्मके सदंश या चिदंश रूप को उपादान बना कर प्रकट नहीं होता प्रत्युत इन अधिष्ठानोंपर भासित होता है, अतः भगवच्छक्तिरूपा अविद्या द्वारा बुद्धिमें प्रकट किया गया व्यामोह है. वह तो सत्य विषयके आच्छादनके बाद आच्छादित अधिष्ठानसे अन्य विषयकी असत्यविषयताके रूपमें घटित है. अतः चिदंशोंमें अहन्ता-ममतारूपा मिथ्याविषयताकी प्रतीति होने लगती है. इसी

तरह सदंशोंमें उत्पत्ति-नाशरूपा अब्राह्मिकताकी प्रतीति उत्पन्न होती है. आविर्भाव-तिरोभाव तो जहां सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश चिदंश या आनन्दांश मेंसे किसीमें नामान्तरण रूपान्तरण या कर्मान्तरण की वास्तविक अनुभूति होती हो वहीं स्वीकारे गये हैं.

८.श्रीगोकुलनाथात्मजविट्ठलरायविरचितं ब्रह्म-जीव-तदैक्य-स्वरूप- निरूपणम् :

विषय : प्रस्तुत कारिकात्मक ग्रन्थ तीन विषयोंके प्रतिपादनार्थ है : १.ब्रह्मस्वरूप २.जीवस्वरूप ३.ब्रह्मजीवैक्यस्वरूप. इस लघुकाय ग्रन्थमें विषय संशय पूर्वोत्तरपक्षोंकी शैलीका प्रकटरूपेण निर्वाह नहीं किया गया है. अतः उन अंगोंका सारानुवाद देना भी आवश्यक नहीं लगता.

९.गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमान्तेवासिश्रीतुलजारामकृतं विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम् :

विषय : प्रस्तुत वादमें ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रयताकी श्रुतिवचनोंके आधारपर उपपत्ति तथा तद्विषयक शंका-समाधान किये गये हैं.

संशय-पूर्वपक्ष : ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयताके बारेमें यह संशय होता है कि लौकिक धर्मोंसे रहित और अलौकिकधर्मरूप जब ब्रह्मको मान लिया गया है, तो विरोधी गुणधर्मोंसे रहित भी उसे मान लेनेके बराबर है, अतः विरुद्धधर्माश्रयताका प्रसंग ही कैसे सोचा जा सकता है? यहां पूर्वपक्षतया यह कहा जा रहा है कि ब्रह्मको निर्विशेष मान लेनेसे काम चल जाता हो तो उसे निरर्थक विरुद्धधर्माश्रय माननेकी क्लिष्टकल्पना क्यों करनी चाहिये? अतः निर्विशेषवाद ही उपपन्न लगता है.

सिद्धान्त : यह कहा गया कि ब्रह्मकी निर्विशेषता तो तब सिद्ध हो पायेगी जब धर्मसामान्यका वहां निषेध हो. श्रुतिओंमें लौकिक गुणधर्मोंके निषेधपूर्वक अनेकानेक जगत्कर्तृत्वादि अन्तर्यामित्व फलदातृत्व आदि अलौकिक गुणधर्म भी तो उपदिष्ट हुवे ही हैं. विरुद्धधर्मोंका आश्रय जब ब्रह्मको कहा जाता है तब उन गुणधर्मोंका ब्रह्ममें तो वस्तुतः विरोध न होनेपर भी ब्रह्मेतर पदार्थोंमें ऐसे गुणधर्मोंकी परस्पर विरोधिता दिखलायी देती है. अतः इसी अर्थमें ब्रह्मगुणोंको परस्पर विरोधी

माना गया है. उपनिषदोंके अनुसार तो केवल ब्रह्म ही नहीं अपितु ब्रह्मके साक्षात्कारसे सम्पन्न अधिकारीमें भी विरुद्धधर्माश्रयता प्रकट होने लगती है. इसके अतिरिक्त सभी पदार्थोंमें सर्वरूप ब्रह्मको माननेपर मूलस्वरूप आवेशावतार अंशावतार विभूतिरूप आदि भगवद्रूपोंका प्रभेद भी विरुद्धधर्माश्रयताके विविध प्रकारोंमें परिगणित किया जाना चाहिये.

१०.श्रीगोकुलोत्सवात्मजश्रीगोपेश्वरविरचितः आत्मवादः :

विषय : प्रस्तुत वादमें ब्रह्म प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगम्य तथा स्वतःप्रमाणरूपा श्रुतिरूप प्रमाणसे ही गम्य है, इस विषयका प्रतिपादन किया गया है.

संशय-पूर्वपक्ष : इस विषयमें संशयकी कोटि यों है : जगत्कारणतया परिभाषित ब्रह्मको जगद्रूपी कार्यके कर्ता होनेके अनुमानोंके आधारपर भी स्वीकारनेमें क्या आपत्ति है? पूर्वपक्षतया अनेक अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं. यथा क्षिति-अंकुर आदि किसी कर्तासे उत्पन्न होने चाहिये, कार्य होनेके कारण घड़ेकी तरह. सर्गके आदिकालमें दो अणुओंके जुड़नेकी क्रिया किसी न किसीके प्रयत्नके कारण हुई होनी चाहिये, जैसे हमारे शरीरमें उत्पन्न होती क्रिया हमारे वैसे प्रयत्नके कारण उत्पन्न होती हैं. ब्रह्माण्डमें गुरुभूत पिण्ड पड़नेके बजाय टिके रहते हैं, वह किसीके रोके रखनेके प्रयत्नवश ही शक्य हो सकता है, जैसे पक्षिगण अपने-आपको आकाशमें अपने प्रयत्नद्वारा गिरने नहीं देते. ब्रह्माण्ड आदिका विनाश भी किसीके प्रयत्नके वश होता होना चाहिये, जैसे फाड़े जानेपर कपड़ा फट जाता है वैसे. इत्यादि अनेक अनुमानके प्रकार प्रस्तुत किये गये है.

सिद्धान्त : सिद्धान्तरूपेण यह कहा गया है कि लौकिक कार्योंके कर्ताके नियमके उदाहरणके बलपर ब्रह्मका कर्तृत्व स्वीकारनेपर, उसे शरीरवान् भी माननेपर ही सम्भव होगा, क्योंकि लोकमें शरीररहित कोई कर्ता होता नहीं. साथ ही साथ तर्कानुमित ईश्वरको शरीरवान् माननेपर शरीर-शरीरीके भेद या अभेद रूपी सम्बन्धोंका भी विचार प्रसक्त होगा. सांख्यमतके अनुसार यह आपत्ति भी दिखलायी गयी है कि लौकिक घटादि कार्योंके कर्ताकी तरह ईश्वरके कर्ता होनेका अनुमान करनेपर, लौकिक कर्ताकी तरह ईश्वरमें भी राग आदि गुण मानने पड़ेंगे. क्षिति आदिको सावयव होनेके कारण कार्यरूप मानना भी संदेहसे परे नहीं. क्षिति आदिके,

क्योंकि, उपादानकारण अवगत नहीं हो पाते. बड़े-बड़े विशाल निर्माणोंमें अनेक कर्ताओंकी अपेक्षा रहती ही है, ऐसे ही ईश्वरके बारेमें सोचे जानेपर तो ईश्वर भी अनेक स्वीकारने पड़ेंगे. अतः श्रुत्येकगम्य प्रमेय ब्रह्मके बारेमें अनुमान आदि प्रमाणोंका उपयोग शक्य नहीं.

वादावलीपरिशिष्टानि

१.श्रीगोकुलनाथात्मजश्रीदीक्षितविरचितं प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम् :

विषय : केवलाद्वैतवाद वेदान्तके विचारणामें स्वयं निरत तथा एतदर्थ अन्योंको भी निरन्तर प्रेरित करते रहनेवाले परमादरणीय श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीजी, गोस्वामी श्रीदीक्षितजी (प्रस्तुत सम्पादकके पितृचरण) के शांकरवेदान्तके विद्यागुरु थे और जब भी वैष्णवमतकी आलोचना करनेको कोई ग्रन्थ लिखते तो प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग तथा प्रत्युत्तर लिख कर दिखानेका स्नेहानुरोध भी करते अतः विद्यागुरुकी आज्ञाके वश शिष्यद्वारा लिखा गया यह आलोचनात्मक ग्रन्थ है. परमादरणीय शास्त्रीजीने वैसे तो शांकर भाष्यपर हजार प्रश्न उद्भावित कर उनके हजार प्रत्युत्तर भी दिये हैं. प्रस्तुत लेखनमें, परन्तु, दोनों गुरुशिष्योंके बीच जो मौखिक चर्चा हुयी, उसमेंसे जितनी बादमें कभी पितृचरणने लेखबद्ध की, उतनी ही यहां प्रकाशित हो रही है.

यहां ग्रन्थारम्भमें मायावाद प्रच्छन्नबौद्ध सिद्धान्त है कि नहीं उस बारेमें श्रीशास्त्रीके १०००वें प्रश्नोत्तरका पर्यालोचन है. द्वितीय २९वें प्रश्नो.पर्या.में निर्धर्मक चैतन्यके बारेमें अध्यासभाष्यगत ''अन्योन्यधर्मान् च'' पदावलीके औचित्यकी चर्चा की गयी है. तृतीय १४८वें प्रश्नो.पर्या.में इस विषयको छेड़ा गया है कि ब्रह्मके बारेमें उपनिषद्के अलावा अन्य भी प्रमाणोंका प्रसर माननेपर उसे 'औपनिषद' मानना उचित होगा या अनुचित. चतुर्थ २००वें प्रश्नो.पर्या.में यह चर्चा हुयी है कि सांख्यमतीय प्रकृतिकी उपादानताका प्रत्याख्यान करनेके बाद केवलाद्वैतवादमें पुनः मायाको उपादानतया प्रस्तुत करना कहां तक उचित या अनुचित है. पंचम २६६ वें प्रश्नो.पर्या.में जिस श्रुतिमें जगत्कारणमें संनिष्ठको मुक्तिलाभका अधिकारी होना कहा गया वहां जगत्को मायोपादानक माननेवालोंके मतमें उस श्रुतिकी कैसे संगति बैठ पायेगी? षष्ठ २९०वें प्रश्नो.पर्या.में कारणविज्ञानसे सभी कार्यभूतोंका

विज्ञान प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी शांकर वेदान्तमें संगति-विसंगतिकी चर्चा की गयी है. सप्तम ५४८वें प्रश्नो.पर्या.में ब्रह्मके अन्तर्यामिस्वरूपको सगुण माननेपर उसके ज्ञानसे सर्वज्ञान मान्य हो पायेगा कि नहीं इस विषयकी चर्चा हुयी है. अष्टम ५४९वें प्रश्नो.पर्या.में ब्रह्मको निर्विशेष माननेपर ''अन्तर्यामी अधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्'' (ब्र.सू.१।२।१८) ब्रह्मसूत्रकी केवलाद्वैतवादमें संगति-विसंगति विचारी गयी हैं. नवम ५८५-६ संख्याक प्रश्नो.पर्या.में 'भूमा'पुरुषकी अवधारणा केवलाद्वैतमें कहां तक संगत या विसंगत है यह विचारा गया है. दशम ७७६वें प्रश्नो.पर्या.में ''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'' (ब्र.सू.१।४।२३) ब्रह्मसूत्रके शांकरभाष्यीय उपपादनकी युक्तता/अयुक्तताके बारेमें चर्चा हुयी है. ग्यारहवें ७७७वें प्रश्नो.पर्या.में अविद्याको ही केवल कारणतया मान्य रखनेवाले कल्पमें ब्रह्मकी उपादानताकी संगति-असंगतिके बारेमें चर्चा हुयी है. बारहवें ७७९वें प्रश्नो.पर्या.में ब्रह्मको विवर्तरूप प्रपञ्चके उपादानतया स्वीकारनेसे पूर्व स्वयं विवर्तोपादानता उपपत्त्यर्ह अवधारणा है कि नहीं इस सन्दर्भमें चर्चा की गयी है. अन्तमें तेरहवें ९१६वे प्रश्नो.पर्या.में निर्विशेष ब्रह्मकी जिज्ञासाद्वारा आरब्ध मीमांसाका ''सर्वधर्मोपपत्तेः च'' (ब्र.सू.२।१।३७) सूत्रतया उपसंहार केवलाद्वैतमें कितना युक्तियुक्त या अयुक्त है इस बारेमें विचार किया गया है.

२.श्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचितं प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितं प्रकृत्यधिकरणसमालोचनम् :

विषय : प्रश्नोत्तरसाहस्रीकार परमादरणीय श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीजी, मेरे किशोरावस्थाकी बात है, एक दिन सहसा पितृचरणसे मिलने हमारे घर आये. पितृचरण तब कहीं घरसे बाहर गये हुवे थे. सो मुझे श्रीशास्त्रीके पास बैठना पड़ा. पढ़ाईके नामपर पितृचरणके प्रवचनोंमें बैठ कर जो कुछ सुना था सो सुना था, उसके अलावा वेदान्तके किसी ग्रन्थको व्यवस्थित रूपमें पढ़ पानेका कोई कार्यक्रम बन नहीं पाया था. अपने भीति और संकोच को तोड़ने भरके हेतुसे मैं शास्त्रीजीसे पूछ बैठा ''आपने रामानुज-माध्व मतोंकी आलोचना करनेको जैसे ग्रन्थ लिखे हैं वैसे वाल्लभ मतकी आलोचनाके रूपमें कोई ग्रन्थ क्यों नहीं लिखा?'' और शास्त्रजीने मुझे आज्ञा दी कि वाल्लभ वेदान्तके बारेमें मैंने जो कुछ सीखा-पढ़ा हो, बोल कर सुनाऊं तो वे अभी ही आलोचना सुनाना पसन्द करेंगे. मैं तो सकपका गया और इस बातको सुन कर मेरी बुद्धि तो घास चरने ही कहीं चली गयी फिरभी डरते-डरते न जाने क्या उनसे पूछा बैठा जो अब बराबर याद नहीं आता और न जाने क्या उसकी समालोचना समादरणीय शास्त्रीजीने आधे पौने घंटे तक धाराप्रवाह मुझे सुनायी. वह तो न तब बराबर समझ पाया और न अब याद ही रह गया हां इतना अवश्य याद है पितृचरणके घर लौट आनेपर शास्त्रीजीने मेरेपर खुश हो कर पितृचरणको कहा ''तुम्हारे पुत्रको मेरे पास पढ़ने भेजो. मैं इसे तुम्हारे जैसा बनाऊंगा. शास्त्रचर्चा कैसे करनी सिखाऊंगा'' ये मेरे बड़े दुर्भाग्य रहे कि मैं उनके पास अध्ययनार्थ जा नहीं पाया

फिरभी उनकी शास्त्रचर्चाकी आज्ञा किशोरावस्थामें अध्ययनाभाववश पालन हो नहीं पायी. उसके अनुपालनार्थ सन् अस्सीके दशकमें कभी पितृचरणके 'प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचन' की तरह मुझे भी कुछ लिख देनेकी प्रेरणा हुयी. वैसे तीनेक अधिकरणोंकी आलोचना उस समय लिखी थी. वे रफ् नोट्स् न जाने कहां खो गयी फेअर् की हुई इतनी ही बची रही सो प्रकाशित कर रहा हुं. उन परमगुरुके प्रति अपनी कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धांजलिके रूपमें. यही तो उनका मुझे सहृदय आदेश था

इस लेखनमें मैंने शुद्धाद्वैत ब्रह्मवादके प्राणोपम सिद्धान्त ब्रह्मके अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादमें बाधक बनते परमादरणीय श्रीशास्त्रीजीके प्रश्नोत्तरसाहस्रीगत प्रमुख समाधानोंका शुद्धाद्वैतवादकी दृष्टिसे समालोचन किया है. शेष स्वयं ग्रन्थमें ही अवलोकनीय जानना चाहिये.

३.श्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचितः केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः :

विषय : यह लेख मेरे विद्यागुरु श्रीधर्मदेव जेटलीजीके पास जब मैं सन् साठके दशकके पूर्वार्धमें 'सिद्धान्तबिन्दु', 'सिद्धान्तलेशसंग्रह', 'विवरणप्रमेयसंग्रह', 'खण्डनखण्डखाद्य' और 'चित्सुखी' पढ़ने जाता था तब लिखा था. जेटलीजी मुझे पुत्राधिकवात्सल्यवश नव्यन्याय पढ़ाना ही अधिक चाहते थे परन्तु मेरी अल्पसामर्थ्य और अल्परुचि के वश मैं तदर्थ उद्यत हो नहीं पाया. अतएव श्रीधर्मदेवजी मुझे उनका अल्पबुद्धिवाला शिष्य समझते थे सो अध्यापनकालमें मेरे मनमें उभरते संशयको उनके सामने प्रस्तुत करनेका साहस कभी जुटा नहीं पाया. और यों मेरे संशयोंको लिख-लिख कर सम्हाल रखता था, किसीके पास समाधान जान

पानेको. अध्यापनके बाद उन्हें सम्हाले रखने कि फाड़ कर फेंक देने योग्य हैं, यह जाननेको एक दिन मैंने मेरे काव्य-व्याकरण-तर्कसंग्रहके अध्यापक हमारे यहां पितृचरणके बाल्यकालसे निवास करनेवाले और ''बावा न्याय नहीं पढ़ोगे तो विषयके साथ अन्याय ही करोगे''की सतत प्रेरणा देते रहनेवाले समादरणीय श्रीकृष्णमाधव झा पण्डितजीको दिखाया था. उन्होने इसे पसन्द कर कहीं-कहीं व्याकरणाशुद्धि भी दूर की थी. सो अभी तक यह लेखन संभला रहा और उसे यहां प्रकाशित कर रहा हुं. इस निबन्धमें उपक्रमोपसंहारके श्लोकोंके अलावा सारा लेखन तभीका है.

केवलाद्वैतवादमें अविद्याके बारेमें मिलते प्रतिपादनोंके बारेमें मेरे विद्यार्थिमनमें उभरी ये अनुपपत्तियां थी. किसी भी युक्तायुक्तताके विवेकके बिना अविकलतया उन्हें यहां परिशिष्टके प्रकाशित करनेमें किसी तरहके सम्भावित अनौचित्यकी विद्वज्जनोंसे क्षमायाचनाके साथ.

४.श्रीदीक्षितात्मजश्याममनोहरविरचितो अक्षरपुरुषोत्तमद्वैतनिरासवादः :

विषय : श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायके अहमदाबादमें आयोजित द्विशताब्दिमहोत्सवके अन्तर्गत विचारगोष्ठीमें प्रा.श्रीरमेश दवेने मुझे अतीव स्नेहाग्रहपूर्वक आमंत्रित किया था. वहां चर्चासत्रमें उनके साथ गहन चर्चा मंचपर हुयी थी. बादमें मुंबई लोटते समय विमानमें बैठे-बैठे भीतर निरन्तर चर्चा मनमें गूंजती रही, सो मैंने उसे श्लोकबद्ध कर दी. बीस-तीस श्लोक तो विमानयात्रामें ही बन गये थे. बाकीके बादमें यहां पहुंचनेपर लिखे गये. पड़े-पड़े ये भी कहीं नष्ट न हो जायें एतदर्थ मुद्रित कर दे रहा हुं.

वाल्लभ वेदान्तमें परब्रह्म और अक्षरब्रह्म के बीच रूपान्तर नामान्तर और क्रियाकलापान्तर का प्रभेद मान्य होनेपर भी दोनोंके बीच परस्पर अविच्छिन्नतया अवस्थित होनेका तत्त्वैक्य ही माना गया है. जबकि श्रीस्वामिनारायण सम्प्रदायके शिक्षापत्री और वचनामृत नामक ग्रन्थोंमें मूलतः साधनाप्रणालीमें वाल्लभ सिद्धान्त और तत्त्वशास्त्रीय चिन्तनमें रामानुजीय मतको मान्य रखा गया था. बादमें परन्तु इस सम्प्रदायकी आधुनिक शाखाओंमें इन्हें अस्वीकार कर दिया. रामानुजीय

तत्त्वत्रयीके स्थानपर तत्त्वपंचक प्रस्तावित किये गये हैं. तदनुसार पुरुषोत्तम अक्षर ईश्वर जीव और माया रूपी तत्त्वपंचकमें भी नव्यविशिष्टाद्वैत और अनेकविध अक्षरोंकी अवधारणा प्रस्तुत हुयी हैं. ये न तो रामानुजीय हैं और न वाल्लभीय अवधारणा ही. इनका वैलक्षण्य निर्विवाद होनेपर भी आन्तरिक संगति विचारणीय लगती है. अतः इसीके औचित्यानौचित्यका यहां विचार किया गया है.

सर्वथा उस चर्चामें पूर्वपक्षतया अपने मतकी प्रस्तुति प्रिय श्रीरमेशभाईने ही की थी सो उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञताज्ञापनके साथ

ग्रन्थकारों तथा ग्रन्थमातृकाओं का विवरण

महानुभाव श्रीहरिरायजी पद्य-गद्यात्मकब्रह्मवादके तथा श्रीगोपेश्वरजी वादकथाके लेखक :

श्रीहरिरायजी तथा श्रीगोपेश्वरजी : महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके द्वितीयात्मज गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणके पुनः द्वितीयात्मज श्रीगोविन्दरायजीके प्रथम पुत्र श्रीकल्याणरायजीके ज्येष्ठपुत्र श्रीहरिरायजी (ज.स्थ.व्रजके गोकुल गांवमें ज.स.वि.सं.१६४७ आश्विनकृष्णा पंचमी) और इनके अनुज श्रीगोपेश्वरजी (जन्म वहीं वि.सं.१६४९में) इन दोनों ब्रह्मवादों और वादकथा के लेखक हैं.

श्रीवल्लभसम्प्रदायमें स्वयं महाप्रभु, प्रभुचरण; उनके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीके बाद पांचवी पीढ़ीपर प्रादुर्भूत होनेवाले श्रीहरिरायजीका इस सम्प्रदायके प्रचार-प्रसार तथा धार्मिक ऐतिहासिक एवं भावात्मक साहित्यनिर्माण में अनन्यसाधारण योगदान है. इनके भक्तिभावसे ओतप्रोत व्यक्तित्व एवं चरित्र के कारण इन्हें 'महानुभाव' कहा जाता है. इनको अपने पितामह श्रीगोविन्दरायजीसे भगवत्सेवाकी अनन्यनिष्ठा विरासतमें मिली थी. स्वमार्गीय आचार्यरचित मूलग्रन्थोंपर व्याख्या आदि सतत लिखते रहनेकी प्रेरणा इन्हें अपने पिता श्रीकल्याणरायजीसे मिली. इसी तरह इनके स्वमार्गीय दीक्षा एवं विद्या के गुरु श्रीगोकुलनाथजीसे सम्प्रदायके प्रसार-प्रचार करनेकी अथक निष्ठा इन्हें प्राप्त हुयी थी.

श्रीहरिरायजी अपने जन्मकालसे ८० वर्ष पर्यन्त व्रज-गोकुलमें ही बिराजे परन्तु शेष अन्तिम ४५ वर्षों तक तब मेवाड़ राज्यके खिमनोर गांवमें बिराजे.

तदनुसार १२५ वर्ष पर्यन्त इनकी भूतलपर स्थिति मानी गयी है. स्वमार्गीय पुष्टिभक्तिके प्रचार-प्रसार हेतु निरन्तर गुजरात राजस्थान ही नहीं अपितु सुदूर सिन्ध तथा सीमाप्रान्तोंमें (हालमें पाकीस्तानमें चले गये डेरा गाज़ीखां पर्यन्त, जहां देशके बटवारेके समय तक इनके बिराजनेकी बैठक भी थी) यात्रा करके पुष्टिमार्गका सर्वविध प्रचार-प्रसार इन्होनें किया था.

इनके स्वमार्गीय धर्म-दर्शन सम्बन्धी चिन्तनपर इनके दीक्षागुरु एवं विद्यागुरु श्रीगोकुलनाथजीका गहरा प्रभाव प्रकट प्रतीत होता है.

निरर्थक ही अनपेक्षित गंभीरतासे न ले लिया जाये तो कहनेकी इच्छा होती है कि महाप्रभुके ग्रन्थराशीके दुर्गमें प्रमाण-साधनदृष्टिकी बुर्जोंकी संभाल उनके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणने स्वीकारी तो प्रमेय-फलदृष्टिकी बुर्जोंको संभालनेका काम कनिष्ठात्मज श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणने स्वीकारा था. गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजीके भी तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजी तथा चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजी ने भी अपने पितृव्य और पिता की तरह महाप्रभुके उपदेशात्मक ग्रन्थोंकी अपनी-अपनी व्याख्याओंमें ऐसा दृष्टिभेद सा कहीं-कहीं प्रकट किया है. इसे और भी अधिक स्पष्टताके साथ कहना हो तो यों कहा जा सकता है कि इन दोनों परम्पराओंमें अन्यकी अस्वीकृतिके बजाय स्वस्वीकृतपर आभिप्रायिक रुचिभारका भेद अधिक लक्षित होता है, मूलसिद्धान्तोका प्रभेद नहीं. स्वाभाविक रूपमें श्रीहरिरायजी अपने विद्या-दीक्षागुरु श्रीगोकुलनाथकी परम्पराके समर्थ उत्तराधिकारी हैं. जबकि श्रीहरिरायजीके कनिष्ठ समकालिक अवतारवादावलीकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजीके वंशज तथा उसी व्याख्यानपरम्पराके ज्योतिस्तम्भरूप अनुगामी है. आगे चल कर श्रीपुरुषोत्तमजीके कनिष्ठ समकालिक श्रीविट्ठलरायात्मज 'लेखकार'नाम्ना प्रसिद्ध श्रीवल्लभजी, जिनकी कृति प्रस्तुत खण्डमें 'प्रपञ्चसंसारभेदवाद' नाम्ना संकलित हुयी है, इन्हीं श्रीहरिरायजीकी परम्परामें आते हैं. अस्तु.

श्रीहरिरायजीने अनेक प्रकारके साहित्यसे पुष्टिभक्तिमार्गीय सिद्धान्तोंके दुरूह प्रमेयोंको अपने उपदेशात्मक डेढ़ सोसे भी अधिक लघुकाय प्रकरणग्रन्थोंसे समृद्ध बनाया है. पुष्टिभक्तिमार्गपर अग्रसर होना चाहते पुष्टिपथिकोंको उलझनमें डाल देनेवाली कौन सी ऐसी गुत्थी होगी जिसे सरल भाषामें इन्होंने इन लघुकाय ग्रन्थोंमें

सुलझा नहीं दी है ऐसे एक नहीं अनेक प्रकारके इनके योगदान वस्तुतः विस्मयजनक हैं महाप्रभुके मूलग्रन्थ षोड़शग्रन्थ पत्रावलम्बन तथा श्रीमद्भागवतसुबोधिनी पर इनके द्वारा लिखी व्याख्याओंका अपना एक विशिष्ट महत्त्व है. अपने गुरु श्रीगोकुलनाथजीद्वारा प्रकटित व्रजभाषामें महाप्रभु और उनके अनुगामिओंके वार्ताप्रसंगपर भी 'भावप्रकाश' लेखनके अलावा विभिन्न विषयोंपर इनके व्रजभाषामें भी अन्य ४६ ग्रन्थ गिनाये जाते है. इनके अलावा संस्कृत व्रजभाषा राजस्थानी गुजराती पंजाबी भाषाओंमें इनके द्वारा लिखे गये भगवल्लीलागानार्थ गेयपदोंका साहित्य भी केवल विपुल ही नहीं अपितु अद्भुत है. इनके रचित गेय पदोंमें सैद्धान्तिक गंभीरता है तो पदोंका लालित्य भी. इनके भक्तिभावोंका अनुपम निखार हमारे हृदयको भक्तिभावार्द्र बना देता है. इसके अलावा संस्कृत ग्रन्थोंके इनके द्वारा किये व्रजभाषानुवादोंके संकलन-सम्पादन और प्रकाशन पर तो कईओंकी अभी तक दृष्टि ही नहीं गयी है. इनके भाषासाहित्यकी विपुलताका एक दुष्परिणाम, निःसंकोच स्वीकारने लायक, मुझे यह भी लगता है कि इनकी शैली अपना कर इनके नामके मिथ्यायोजन द्वारा अगड़म-बगड़म भी न जाने क्या-क्या हस्तलिखित साहित्य उपलब्ध नहीं होता इनके अनुज श्रीगोपेश्वरजीकी भगवत्सेवामें सहयोगिनी पत्नीके शरीर न रह जानेकी सम्भावनावश इन्होंने अपने अनुजको जो ४१ शिक्षापत्र लिखे थे वे तो पुष्टिमार्गीय उपदेशोंके इतिहासमें क्रोशस्तम्भके समान हैं. सभी पाठकोंके लिये ये परम प्रेरणादायक उपदेश माने जाते हैं. इतना ही नहीं अपितु साधारण अनुगामिजनोंके भीतर पुष्टिभावोंके उद्बोधन परिवर्धन तथा संनिर्वाह में इनका प्रमुख योगदान रहा है. इनके अनुज द्वारा लिखी इन ४१ शिक्षापत्रोंकी व्रजभाषा व्याख्या भी महत्त्वपूर्ण रही है.

पद्य-गद्यात्मक दोनों ब्रह्मवाद और वादकथा की मातृका : ये दोनों, बल्कि तीनों ब्रह्मवाद सर्वप्रथम श्रीहरिशंकर ओंकारजी शास्त्रीने सम्पादित कर के आजसे ७९ वर्षपूर्व वि.सं.१९८५ में चौखंभा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस् विद्याविलास प्रेस वाराणसी द्वारा इन्हें प्रकाशित करवाये थे. इस संस्करणमें श्रीहरिरायजीके दोनों ब्रह्मवादोंकी व्याख्या भी मुद्रित थी. गद्यात्मक ब्रह्मवादके व्याख्याकार गोष्ठीशाल श्रीगोपालकृष्ण भट्ट हैं. ये श्रीहरिरायजीसे पांचवी पीढ़ीपर इनके घरमें गोद आये रश्मिकार श्रीगोपेश्वरजीके शिष्य हैं, स्वयंकृत उल्लेखके आधारपर. इसके अलावा और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है. पद्यात्मक ब्रह्मवादकी व्याख्याके लेखकके

तो नामकी भी जानकारी नहीं मिलती. इस प्रकाशनके चार वर्ष बाद सन् १९३३ में 'वादवारिधिः' नामक न्यायशास्त्रीय वादोंके संकलनमें श्रीबालकृष्ण मिश्रने 'भक्तिमार्गवादः' नाम्ना यही गद्यात्मक ब्रह्मवाद पुनः वहीं चौखंभासे प्रकाशित करवाया था. वादकथा श्रीमगनलाल गणपतिराम शास्त्रीने ९० वर्षपूर्व 'पुष्टिभक्तिसुधा'(मुंबइ) वि.सं.१९७३में प्रकाशित करवायी थी. बादमें हमारे पितामहके आस्थानपण्डित श्रीरमानाथ शास्त्रीजीने वि.सं.१९७६=ई.स.१९२०में पुष्टिमार्गीयसिद्धान्तकार्यालय (मुंबइ) द्वारा प्रकाशित करवायी थी. प्रस्तुत संस्करण इन्हीं प्रकाशनोंका पुनर्मुद्रण है, सम्पादक-प्रकाशकों प्रति कृतज्ञताद्योतनपूर्वक.

गोस्वामी श्रीगिरिधरजी विग्रहवाद तथा प्रपञ्चवाद के लेखक :

श्रीगिरिधरजी : इन दोनों वादग्रन्थोंके लेखकका तृतीयात्मज श्रीबालकृष्णजीके घरके होना इन दोनों ही ग्रन्थोंमें **''राजलीलापतिः कृष्णः प्रभुः श्रीद्वारकेश्वरः'',''एतेन अस्मत्पति यो अस्ति प्रभुः श्रीद्वारकेश्वरः''** इन आत्मस्वीकृतिके आधारपर निःसन्देह सिद्ध होता है. इन दोनों ग्रन्थोंकी मूल हस्तलिखित प्रतियां भी कांकरोलीके पूज्यपाद महाराजश्रीसे सम्पादक श्रीमगनलाल गणपतराम शास्त्रीजीको मिली थी जो उन्होंने 'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिक पत्रिकाके वर्ष ३ अंक ५-७ में सम्पादित करके आजसे ९४ वर्षपूर्व प्रकाशित करवाये थे. इसमें विग्रहवादकी एक हस्तलिखित प्रति ज़ेरोक्स प्रतिलिपि गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीके हस्ताक्षरोंमें अनुलिपि की हुई मुझे भी देखनेको मिली. एतावता इनकी उत्तरावधि तो निर्धारित हो जाती है परन्तु पूर्वावधि निर्धारित करने जानेपर अवतारवादावलीकारसे पूर्वभावी अथवा समकालिक दो 'गिरिधरजी' नाम वंशावलीमें उपलब्ध होते हैं :

१.द्वारकेशात्मज गिरिधरजी (वि.सं.१६६२) २.व्रजभूषणात्मज गिरिधरजी (वि.सं.१७४५). इन दोनोंमें से कोई एक होना ग्रन्थकारका निर्धारित किया जा सकता है. 'कांकरोलीका इतिहास' नामक ग्रन्थमें द्वितीय गिरिधरजीके शास्त्रव्यसनी विद्वान् होनेका उल्लेख मिलता है. परन्तु वर्तमान तृतीय पीठाधीश गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमारजीकी धारणा है कि इन्हें द्वारकेशात्मज गिरिधरजी ही मानना चाहिये. इन विषयोंमें उनकी जानकारी मुझे जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उससे कहीं अधिक ही होनेसे इदमित्थतया कुछ भी निर्धारित कर पाने मैं अपने-आपको समर्थ नहीं पाता.

मातृका : जैसा कि उल्लेख कर दिया गया तदनुसार 'पुष्टिभक्तिसुधा' तथा बादमें हमारे पितामहके आस्थानपण्डित श्रीरमानाथ शास्त्रीजीने वि.सं.१९७६=ई.स.१९२०में पुष्टिमार्गीयसिद्धान्तकार्यालय (मुंबइ) द्वारा प्रकाशित वादावली संग्रहमें प्रपञ्चवाद संकलित हुवा था. उसमें सम्पादक महोदयने प्रभुचरणके ज्येष्ठात्मज द्वारा विरचित होनेका अनुमान किया है परन्तु वह सम्भावना इतनी प्रबल नहीं लगती है.

गोस्वामी श्रीरघुनाथात्मज श्रीव्रजनाथजी ब्रह्मवाद (तृतीय)के लेखक :

श्रीव्रजनाथजी : श्रीमद्वल्लभवंशावलीके अनुसार प्रभुचरणके ज्येष्ठात्मज श्रीगिरिधरजी (वि.सं.१५९७)के तृतीयात्मज श्रीगोपीनाथजी (वि.सं.१६३४), इनके ज्येष्ठात्मज श्रीप्रभुजी (वि.सं.१६६०), इनके ज्येष्ठात्मज श्रीरणछोड़जी (वि.सं.१६७७), इनके द्वितीयात्मज श्रीरघुनाथजी (वि.सं.१७२७), इनके आत्मज श्रीव्रजनाथजी (वि.सं.१७४४) प्रस्तुत ग्रन्थके लेखक हैं. यों अवतारवादावलीकारके कनिष्ठ समकालिक सिद्ध होते हैं. इनकी कृतियोंमें षोडशग्रन्थोंके अन्तर्गत सिद्धान्तमुक्तावलीकी विवृतिटिप्पणी प्रकाशित है. इसी तरह 'वैयासन्यायमाला' नामिका ब्रह्मसूत्र वृत्ति भी प्रथमाध्याय द्वितीयपाद पर्यन्त प्रकाशित है. परन्तु कांकरोलीस्थ विद्याविभागमें तृतीयपादके १५वें सूत्र पर्यन्त विद्यमान होनेका उल्लेख मिलता है, ऐसा 'शुद्धाद्वैतपुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय'कारका कहना है. कहा जाता है कि ये काका वल्लभजीके शिष्य थे और अपने प्रत्येक ग्रन्थको संशोधनार्थ उनके पास भेजते थे. सो कुछ इनके ग्रन्थोंके संशोधित संस्करण संशोधनकारके नामके साथ भी प्रसिद्ध हैं.

मातृका : दो उपलब्ध हुयी दोनों ही पूर्वोल्लिखित प्रथम संस्करण श्रीरमानाथ शास्त्रीजी द्वारा और द्वितीय संस्करण श्रीहरिशंकर शास्त्रीजी द्वारा. इन्हीं दोनों संस्करणोंके आधारपर यह तृतीय संस्करण पुनःप्रकाशित किया जा रहा है.

गोस्वामी श्रीविट्ठलरायात्मज श्रीवल्लभजी प्रपञ्चसंसारभेदवादकर्ता :

श्रीवल्लभजी : श्रीमद्वल्लभवंशवृक्षावलीके अनुसार 'विट्ठलरायात्मज श्रीवल्लभजी' सर्वप्रथम तो प्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीका अपर नाम है. द्वितीय प्रथम/६गृहमें एक विट्ठलरायजी (वि.सं.१६५७)में हुवे और इनके चतुर्थात्मजका भी 'काका वल्लभजी' (वि.सं.१७०३) नाम मिलता है. तीसरा नाम पंचम गृहमें 'विट्ठलेशजी' (वि.सं.१६९८) और इनके आत्मज वल्लभजी (वि.सं.१७२९) मिलता है. यों तीनोंमें

से ये कौनसे हैं कह पाना कठिन है. हमारे यहांसे प्रकाशित वादावलीमें इस ग्रन्थके लेखकतया प्रभुचरणात्मज श्रीगोकुलनाथजीको माना है. कोई काका वल्लभजी अवतारवादावलीकारके कनिष्ठ समकालिक भी हैं और ये ही सुबोधिनीपर 'लेख' नामक व्याख्यानके कर्ता हैं. यों नामसाम्यवश ग्रन्थकर्ताका निर्धारण कठिन हो गया है. वैसे प्रभुचरणके चतुर्थात्मज बहुधा अपने नामके साथ साथ 'पितृचरणैकतान' विशेषण अवश्य जोड़ते हैं, वह यहां पुष्पिकामें अनुल्लिखित होनेसे तथा प्रथम/६ गृहके काका वल्लभजी वादावलीकारसे ६७ वर्ष वयसा ज्येष्ठ होनेके कारण वादावलीकार उनका 'वल्लभः' ऐसा एकवचनान्त नामोल्लेख नहीं करते, क्योंकि उनकी पदप्रयोगशैलीके यह प्रतिरूप है अतः, तृतीय श्रीविट्ठलरायात्मज श्रीवल्लभजीका ही लेखकार होना अधिक सम्भाव्य लगता है.

वाल्लभ वेदान्तके ग्रन्थोंकी सेवाके हेतु श्रीपुरुषोत्तमजीके अपरप्राकट्य जैसे श्रीमूलचन्द तेलीवालाकी भी धारणा यही है. अतः तृतीय श्रीवल्लभजी ही इस ग्रन्थके भी कर्ता होने चाहिये.

गोस्वामी श्रीगोकुलनाथात्मज श्रीविट्ठलराय ब्रह्म-जीव-तदैक्य-स्वरूप- निरूपणकार :

श्रीविट्ठलराय : वंशवृक्षमें प्रथम/६ गृहमें प्रभुचरणसे सातवीं छट्ठी पीढ़ीपर पूर्वोल्लिखित काका वल्लभजीके सातवें पुत्र श्रीगोकुलनाथजी (वि.सं.१७५०) हुवे, इनके द्वितीयात्मज श्रीविट्ठलरायजी (वि.सं.१७८१) में जनमे, इससे अधिक इनका कोई विवरण मुझे ज्ञात नहीं.

मातृका : ये तीनों ग्रन्थ वर्षों पहले 'बृहत्स्तोत्रसरित्सागरः' नामक लघुग्रन्थोंका जो संकलन प्रकाशित हुवा था, उसमें प्रकाशित पाठका ही यहां पुनःप्रकाशन है.

गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमान्तेवासीश्रीतुलजारामजी विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनकर्ता :

श्रीतुलजारामजी : ये स्वयं अपने-आपको वादावलीकार श्रीपुरुषोत्तमजीका अन्तेवासी होना स्वीकारते हैं. सो उनके समकालिक होना तो इनका निश्चित ही है. कुछ वर्षों पूर्व श्रीनाथद्वारामें द्वितीयपीठाधीश श्रीकल्याणरायजीके हार्दिक औदार्यवश उनके हस्तलिखित संग्रहके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुवा था. तब अतीव उदारहृदयसे उन्होंने महानुभाव श्रीहरिरायजी द्वारा पुत्रतया गोदमें लिये गये श्रीगिरिधरजीके प्रति वादावलीकार श्रीपुरुषोत्तमजीके निज हस्ताक्षरोंमें लिखित तीन पत्रोंके दर्शन कराये थे. उन पत्रोंकी प्रतिलिपि भी करनेकी अनुमति दी थी सो अपने कृतज्ञताद्योतनपूर्वक इस प्रसंगमें उन्हें उद्धृत करना चाहुंगा :

(१)

स्वस्ति श्रीपुरुषोत्तमानां परमसुहृत्तमप्रियान्तेवासिषु गिरिधरेषु... मच्छिष्यस्य तुलजारामस्य वल्लभस्य च दण्डवत्प्रणामाः.

(२)

स्वस्ति श्रीपुरुषोत्तमानां प्रियतमगिरिधारिषु शुभाशिषः समुल्लसन्तु. शम् इह, भावत्कं प्रतिदिनम् एधमानम् आशास्महे. अपरञ्च ...णापट्टणपत्रं लिखितं प्राप्तम्. सर्वोऽपि उदन्तो ज्ञातः तेन आनन्दः समजनि. अतः परं भगवद्दर्शनं विधाय शीघ्रम् आगन्तव्यं कृतकार्यैः. काञ्च्यां प्रहस्तस्य प्रचारस्य काचन वार्ता श्रुता भवति चेद् विलेख्या. तुलजारामवल्लभदासयोः दण्डवत्प्रणामाः स्वीकार्याः.

(३)

श्रीहरिर्जयति

श्रीमत्प्रभुपदसविधे भवतः स्मर्यते. इदानीं मम नेत्रयोः अपाटवं भूयो जातम् अस्ति.

इन पत्रोंके भी आधारपर यह सिद्ध होता कि श्रीतुलजारामजी न केवल शिष्य थे किन्तु श्रीपुरुषोत्तमजीके प्रिय अन्तेवासी भी थे. यहां प्रकाश्यमान ग्रन्थके अलावा और भी कुछ इनके ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतिलिपियां मिलती हैं जो अभी तक प्रकाशित हो नहीं पायी हैं. इससे अधिक और कुछ इनके बारेमें मुझे अवगत नहीं.

श्रीगोकुलोत्सवात्मज श्रीयोगिगोपेश्वरजी आत्मवादके लेखक :

श्रीयोगिगोपेश्वरजी : इनके पिता श्रीगोकुलोत्सवजी (वि.सं.१८१६), श्रीवल्लभवंशवृक्षके अनुसार, द्वितीय/१गृहमेंसे अवतारवादावलीकार श्रीपुरुषोत्तमजीके तृतीय/२गृहमें गोद गये थे; और, ये श्रीयोगिगोपेश्वरजी (वि.सं.१८३५) पुनः सुरतसे नाथद्वारा स्थित द्वितीय/१गृहमें गोद आ गये. अतएव श्रीपुरुषोत्तमजी द्वारा लिखित ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतियां इन्हें सुलभ थी. कहा जाता है अपने ग्रन्थकी एक प्रति श्रीपुरुषोत्तमजी अपने पूर्वोक्त शिष्य श्रीगिरिधरजीको भी भेजते थे. इनके भी द्वारा विरचित साहित्यका प्रमाण विपुल है : अणुभाष्यप्रकाशरश्मि (प्रकाशित), सुबोधिनीके जन्मप्रकरणपर बुभुत्सुबोधिका (प्रका.), भक्तिमार्तण्ड (प्रका.), तैत्तिरीयसंहितानवार्थिभाष्य (अप्र.), परिवृढाष्टकव्याख्या (प्रका.), आत्मवाद (प्रका.) भक्तिरत्न (प्रका.) नामावली(अप्र.), प्रकीर्णपद्यशतकत्रयी (अप्र.) आदि. उदयपुरमहाराणा श्रीभीमसिंह इनके पास पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तग्रन्थ सुनने आते थे और उनके आग्रहवश लेखनमें कठिनता दूर कर दुबारा उसी विषयको लिखा ऐसा इनके लेखनमें उल्लेख मिलता है. १२० वचनामृतकार भी कहते हैं इनका प्रवचन इतना क्लिष्ट होता था कि साधारण श्रोताओंके लिये वह श्रवणमंगल ही होता था. वही क्लिष्टता इनकी लेखनशैलीमें भी बहुत झलकती है. फिरभी विभिन्न शास्त्रोंके वचनोंकी उपस्थिति तो वस्तुतः इनकी अद्भुत है

मातृका : पूर्वोल्लिखित 'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिकके वर्ष ३ अंक १०वेंमें प्रस्तुत आत्मवाद इदम्प्रथमतया प्रकाशित हुवा. बादमें हमारे यहांसे श्रीरमानाथ शास्त्रीजीके सम्पादकत्वमें प्रकाशित पूर्वोल्लिखित वादावलीमें भी यह वाद

पुनःप्रकाशित हुवा. प्रस्तुत संस्करण उन दोनों आधारमातृकाओंके अलावा अन्य भी कुछ हस्तलिखित प्रतिलिपियोंसे इसे संवादित तथा संशोधित किया गया है.

इन सभी पूर्वसम्पादकों तथा पूर्वप्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं. मूलमें उनके ही परिश्रमके फलस्वरूप आज इन ग्रन्थोंका पुनःप्रकाशन शक्य हुवा है. यद्यपि पाठभेदतालिका देना हमारा आवश्यक कर्तव्य है तथापि अधिक मातृकाओंके उपलब्ध न होनेके कारण और अधिकांश वाद पूर्वमुद्रितोंका पुनर्मुद्रण होनेसे सर्वथा भ्रष्टपाठवाली ही मातृकाओंके पाठभेद तैयार करनेमें श्रम-समयकी मर्यादा आड़े आती होनेसे यथामति संशोधनपूर्वक प्रकाशित की जा रही हैं.

इस पुनःप्रकाशनार्थ हस्तलिखित मातृका, जो भी उपलब्ध हो पायी उन्हें खोजना, कम्प्युटरमें फीड् करना, पाठभेदनिर्धारणार्थ मातृकाओंके सहपठनमें लंबे काल तक बैठना, उपन्यस्त शास्त्रवचनोंके मूलसन्दर्भ खोजना आदिमें सहयोग प्रदान करनेवाले चिरंजीवी गोस्वामी श्रीशरद्, चिरंजीवी गोस्वामी श्रीमन्दार, श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीमती मनीषा तथा श्रीपरेश शाह, श्रीअनिल भाटिया, श्रीजगदीश शेठ आदिके वाल्लभ वेदान्तके वाङ्मयकी सेवाके भावको कैसे भुलाया जा सकता है प्रस्तुत ग्रन्थके सुन्दर रंगीन आवरकचित्रकी निर्मात्री सुश्री ख्याति मेहता है. मुद्रापणोपयोगी सारी व्यवस्थाको संभालनेवाले श्रीमनीष बराई हैं. प्रकाशक श्रीव.वि.श्रीवि.प्र.आ.हो. न्यासके सुसंचालक श्रीहंसराजभाई वेद आदि न्यासिगणों तथा मुद्रक रमा आर्ट्स्के प्रति भी कृतज्ञतांगीकार प्रकट करते हैं.

दिनांक : २३,जनवरी२००८ **गोस्वामी श्याममनोहर**